संस्कृति

अंक-11, मार्च-2006

संस्कृति

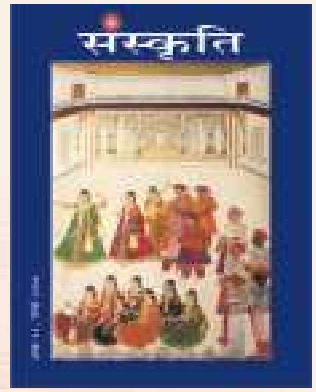

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

पर्यटन एवम् संस्कृति मंत्रालय

पर्यटन एवं संस्कृति विभाग,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संरक्षक :
नीना रंजन, सचिव, संस्कृति विभाग (31 मार्च 06 को सेवा निवृत्त)
बादल के.दास., सचिव, संस्कृति विभाग (1 अप्रैल 06 से)

मुख्य परामर्शदाता :
के. जयकुमार, संयुक्त सचिव, संस्कृति विभाग
रामचंद्र मिश्र, संयुक्त सचिव, संस्कृति विभाग

सम्पादक :
मोहिनी हिंगोरानी, निदेशक, संस्कृति विभाग

उप सम्पादक :
श्याम सूद, उप निदेशक, संस्कृति विभाग

सह सम्पादक :
मीमांसक, सहायक निदेशक, राष्ट्रीय अभिलेखागार

मुख्य आवरण
नृत्य एवं संगीत मंडली, शोरापुर,
दक्कन, लगभग 1800-25 ई.

भीतरी मुख्य आवरण
संत कबीर दास के साथ संत रविदास,
मुगल, लगभग 1620-30 ई.

अंतिम आवरण
शहज़ादी अपनी सखियों और सेविकाओं के साथ,
अवध, हाथीदांत पर, लगभग 1880 ई.

पोस्टर
महिलाएँ संगीत का आनंद लेते हुए,
दक्कन, लगभग 1725-50 ई.

सौजन्यः राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भीतरी अंतिम आवरण
'मजालिस-उल-अशाक' की पाण्डुलिपि, 1565 ई.

मार्च-2006, अर्द्धवार्षिक
अंक-11, पंद्रह सौ प्रतियां
http://indiaculture.nic.in पर भी उपलब्ध

संपादकीय पता
210, विज्ञान भवन एनेक्सी,
मौलाना आजाद रोड, नई दिल्ली-110011
दूरभाष : 91-11-23022041
फैक्स : 91-11-23022045
ईमेल : mkhingorani04@hotmail.com

केवल निःशुल्क सीमित वितरण के लिए
संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उससे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

अनुक्रम

i सम्पादकीय

1 ऑक्टेव - 2006
डॉ० मनमोहन सिंह (अभिभाषण)

4 ''हर भारतीय अपने-आपको सांस्कृतिक विरासत से जुड़ा महसूस करे...''
अम्बिका सोनी (साक्षात्कार)

9 कृष्ण का विश्व रूप : एक अध्ययन - माध्यम चित्रकला
नीना रंजन, आई.ए.एस.

14 भारतीय मृण्मूर्तिकला
''सुनो छोटी-सी गुड़िया की लंबी कहानी''
विजय वर्मा, आई.ए.एस. (सेवा निवृत्त)

22 चीन में बौद्ध धर्म व कला
संजीव कुमार सिंह

27 यायावर संस्कृति : कल और आज
डॉ. श्याम सिंह शशि

32 भारतीय लघुचित्रों में बिखरे होली के रंग
डा० दलजीत

36 इंडो-इस्लामिक विरासत का बेजोड़ खजाना रामपुर रज़ा लाइब्रेरी
डा० डब्ल्यू.एच. सिद्दीक़ी

44 संगीत सम्राट तानसेन का गाँव बेहट
''जहाँ दिव्य संगीत आज भी गूँजता है''
पी. नारायण

51 सह-अस्तित्व की भावना और बाबा शेख फरीद
डा॰ महीप सिंह

पक्षी और संस्कृति
विश्वमोहन तिवारी, एयर वाइस मार्शल (सेवा निवृत्त) 54

ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकायें
डा. कृपाशंकर सिंह 58

माँ से प्रभावित होता है स्त्री का व्यक्तित्व
मृणाल पाण्डे 66

लड़की
जमाइका किनकैड
उड़िया रूपांतर : प्रसन्न कुमार होता 69

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन : जीवन और कृतित्व
अरुण कुमार 73

संस्कृति की ध्वजवाहक थीं : वीरांगना लक्ष्मीबाई
पं. सुरेश 'नीरव' 76

भारतीय संस्कृति : सामासिक आयाम
प्रो० कृष्णकुमार गोस्वामी 80

फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी और भारत
डॉ. सुधाकर शर्मा 85

संगोष्ठियाँ : हिंदी में
सम्पादक 89

आपका पत्र मिला 90

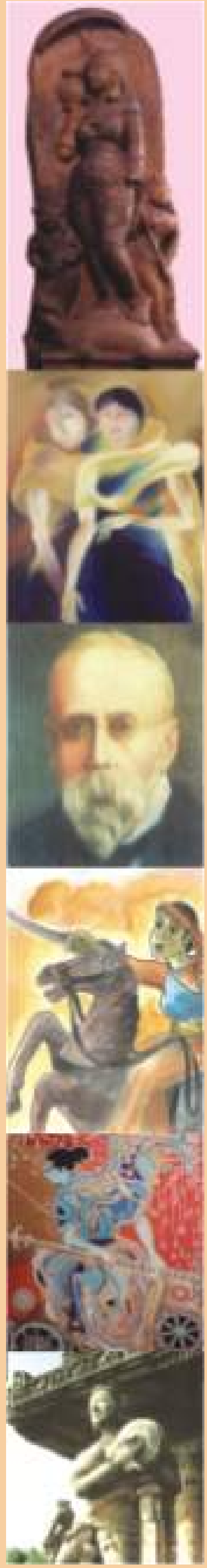

संस्कृति बनाम बाज़ार

कुछ चीजें अस्तित्व में जितनी सूक्ष्म होती हैं प्रभाव में उतनी ही विराट और सशक्त भी होती हैं। प्राण–शक्ति, विचारों, संवेदनाओं आदि का अस्तित्व सूक्ष्मतम है। कोई भी कलाकार, अपनी सूक्ष्म संवेदनाओं और अगोचर विचारों आदि को, सुरुचि और सुन्दरता के साथ संप्रेषित करता है तो माध्यम कोई भी हो – कलम हो, कूची हो, शब्द हों, भंगिमाएं हों, मुद्राएं हों, ताल हो – तरंगें हों, राग हों, कम्प्यूटर हो, सेल्यूलॉयड हो, ग्राफिक्स हो – सभी कला–माध्यम व्यष्टि से समष्टि की ओर, 'माइक्रो' से 'मेक्रो' की ओर उन्मुख हो सेतु की भूमिका निभाते हैं। जितना सफल सम्प्रेषण, उतना ही सार्थक सेतु। उतना ही सशक्त वह कला–माध्यम। भारतीय काव्य शास्त्र में सौंन्दर्य, रस निष्पत्ति और साधारणीकरण, कला में सम्प्रेषण की सफलता के स्थापित मानदण्ड हैं।

कलाकार साधारण से माध्यम का सदुपयोग कर उसमें असाधारण प्रभाव पैदा कर देता है, सीमित शब्दों में असीमित अर्थ भर देता है, लघु भंगिमा से वृहद् परिदृश्य प्रस्तुत कर देता है। कलाकार ऐसी करामात सामने उपस्थित रहकर या अपनी सदेह उपस्थिति के अभाव में भी करते आ रहे हैं, परन्तु अब बात उससे भी आगे की है।

भूमण्डलीकरण की आर्थिक परिघटनाओं तथा जनसंचार एवम् सूचना प्रौद्योगिकी के वैश्विक विस्तार से कला माध्यमों के संसार में न सिर्फ अद्भुत प्रसार हुआ है बल्कि संस्कृति में भी नवीन संदर्भ जुड़े हैं। इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृति कर्मियों के लिए जहां असीम संभावनाएं सृजित हुई हैं वही असंख्य दबाव भी उभर आए हैं, नई–नई प्रतिस्पर्धाएं उग आई हैं। भौगोलिक सीमाओं को नकारता विश्वग्राम मानो कॉर्पोरेट कल्चर से चल रहा है जिसमें हर किसी पर बाज़ार का दबाव है और उपभोक्तावाद का प्रभाव है। ऐसे में कला और कलाकार भी उनसे अछूते नहीं हैं। कला के क्षेत्र में भी पूंजीवाद, विज्ञापनीकरण व बाज़ार के लटके झटके, 'मार्केटिंग गिमिक्स' घुस आए हैं। किसी कला दीर्घा में एक कलाकृति खरीदने पर साथ में वाइन का लुत्फ मुफ्त मिलने की खबर, एक कलाकृति खरीदने पर दूसरी कलाकृति मुफ्त मिलने (buy one get one free) की खबर, लगता है कि अब कला भी एक उत्पाद, एक आर्थिक इकाई, एक जिन्स, एक कॉमॉडिटी बन गई है और कलाकार अथवा साहित्यकार या संगीतकार एक विक्रेता व एक उत्पादक बन कर रह गया है। प्राचीन काव्य शास्त्र की भाषा में जो सहृदय था, वह आज बन गया है क्रेता और उपभोक्ता। संस्कृति के बाज़ार में इन उपभोक्ताओं द्वारा ऊंची–ऊंची बोलियां लगाना अथवा बड़ी–बड़ी राशियाँ रॉयल्टी के रूप में पेशगी देना कला के अर्थशास्त्र का नया आयाम है।

लगता है कला का प्रवाह अब उल्टा हो चला है। समष्टि से व्यष्टि की ओर, समाज (पढ़ें बाज़ार) से कलाकार की ओर। अन्य उपभोक्तावादी वस्तुओं और जिन्सों में प्रचलित विश्व प्रसिद्ध बड़े–बड़े ब्रान्डों की तरह नामी गिरामी कलाकार – साहित्यकार और अन्य संस्कृतिकर्मी भी ब्रान्ड बन गए हैं जिनकी कृतियों को खरीदने के लिए, यहां तक अग्रिम रूप से आरक्षित करने के लिए भी पूंजीपतियों की थैलियों के मुंह खुल जाते हैं। इस प्रकार के व्यक्तिवादी, विज्ञापनी, विपणन–व्यापार के सांस्कृतिक परिवेश में देश की मिट्टी की सोंधी सुगन्ध लिए, ज़मीन से जुड़े संस्कृतिकर्मियों को भी उनका देय कौन दिलवाएगा? संस्कृति के चिकने–चमकते वैश्विक बाज़ार से चुंधियायी आंखों को गुदड़ियों में गुम कालजयी कृतियों और लुप्त हो रही लोक कलाओं को आंकेगा? वैश्विक कलामंच पर हाशिए पर पड़े संस्कृतिकर्मियों की सहभागिता कैसे सुनिश्चित होगी।

भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में भारत की ललित कलाएं, प्रदर्शनकारी कलाएं और भारतीय भाषाओं की साहित्यिक विधाएं ऐसे दबावों से व चुनौतियों से कैसे जूझेंगी, प्रतिस्पर्धात्मक स्थितियों में कैसी प्रतिक्रियाएं करेंगी और भविष्य की आशंकाओं और आकांक्षाओं से कैसे निपटेंगी, इन्ही प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास करते हुए पाब्लो नेरूदा के ये शब्द याद आ रहे हैं : –

"...कविता का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा
यदि वह ओस की एक बूंद को न बचा सके......"

ऑक्टेव–2006 के उद्घाटन समारोह में प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह का सम्मान करतीं पर्यटन एवम् संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी

डॉ. मनमोहन सिंह
(अभिभाषण)*

ऑक्टेव - 2006

आठ पूर्वोत्तर राज्यों के आठ–दिवसीय सांस्कृतिक उत्सव – 'ऑक्टेव' के उद्घाटन के इस आनंदमय अवसर पर आप सब के बीच आकर मुझे बहुत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह 'ऑक्टेव' आठ राज्यों की गहरी सांस्कृतिक भावनाओं के मिलन का प्रतीक है। मैं, इस उत्सव की संकल्पना में सम्मिलित संस्कृति विभाग और इससे जुड़े विभिन्न संगठनों को बधाई देता हूं। ऐसे उत्सवों को प्रत्येक वर्ष मनाए जाने से इनका महत्व और भी बढ़ जाता है। मेरा मानना है कि आने वाले वर्षों में यह उत्सव निःसंदेह एक महत्वपूर्ण और शानदार सांस्कृतिक समारोह की शक्ल अख्तियार कर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेगा। जब यह उत्सव पर्याप्त समय पूर्व घोषित तारीख़ों एवं नियत स्थान पर नियमित रूप से मनाया जाने लगेगा तो निश्चित रूप से विश्वभर के पर्यटक इसकी ओर आकृष्ट होंगे।

कलारूपों, शिल्प परंपराओं, हथकरघों, जीवन–शैलियों तथा मान्यताओं का क्रमिक विकास करते हुए संपूर्ण दक्षता प्राप्त करने तक वर्षों लग जाते हैं। समुदाय विशेष

* नई दिल्ली में 7 मार्च, 2006 को पूर्वोत्तर क्षेत्र के सांस्कृतिक उत्सव – 'ऑक्टेव–2006' के उद्घाटन अवसर पर माननीय प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए भाषण का हिंदी अनुवाद

के लोगों के नृत्य और संगीत में पीढ़ियों की खुशियां और आनंद समाया रहता है जिन पर सामाजिक और राजनीतिक इतिहास की छाप भी होती है। ये हमारे पूर्वजों की आकांक्षाएं और स्वप्न ही हैं जिन्हें कलारूपों के माध्यम से हम सदियों से अभिव्यक्त करते आ रहे हैं। हालांकि हर पीढ़ी के कलाकार इनकी नई व्याख्या करते हैं और इनकी शाश्वत प्रासंगिकता का पुनः अनुसंधान करते हैं। इन कलारूपों को जीवित रखकर अपने पूर्वजों को भावभीनी श्रद्धांजलि देने का यह बहुत ही शानदार ढंग है। कलाकारों और मंचकर्मियों के योगदान को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। क्योंकि, यह आज के कलाकार और उनकी निष्ठा ही है जिसके कारण अतीत से हमारा नाता टूट नहीं पाया है।

"मेरा मानना है कि आने वाले वर्षों में यह उत्सव निःसंदेह एक महत्वपूर्ण और शानदार सांस्कृतिक समारोह की शक्ल अख्तियार कर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेगा।"

हमारी विरासत ही हमारी विशिष्ट पहचान बनाती है। विविधता की इसी मान्यता और इसके प्रति सम्मान की भावना से ही भारतीय लोकतंत्र को मजबूती और ऊर्जा मिलती है। इसमें हम सभी के लिए फलने–फूलने और पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्थान है। हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जिसे अपनी विविधता पर नाज है और जो अपनी एकता के प्रति भी आश्वस्त है।

असम, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैण्ड तथा सिक्किम की अपनी–अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपराएं हैं और अपनी–अपनी समृद्ध सृजनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें बचाए रखने का इससे बेहतर तरीका नहीं हो सकता कि उन्हें कला प्रदर्शन के समुचित अवसर प्रदान किए जाएं और परंपराओं

को जीवित रखने वाले इन कलाकारों तथा शिल्पकारों के लिए अनुकूल आर्थिक वातावरण तैयार करवाया जाए। यह बहुत खुशी की बात है कि इस उत्सव में पूर्वोत्तर के नृत्य, संगीत तथा रंगमंच के साथ–साथ दृश्य कलाओं, सिनेमा तथा साहित्य को भी मंच प्रदान किया गया है। इससे इस उत्सव का दायरा निश्चय ही और व्यापक हुआ है।

> **“असम, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैण्ड तथा सिक्किम की अपनी–अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपराएं हैं और अपनी–अपनी समृद्ध सृजनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इन्हें बचाए रखने का इससे बेहतर तरीका नहीं हो सकता कि उन्हें कला प्रदर्शन के समुचित अवसर प्रदान किए जाएं और परंपराओं को जीवित रखने वाले इन कलाकारों तथा शिल्पकारों के लिए अनुकूल आर्थिक वातावरण तैयार करवाया जाए।”**

आर्थिक विकास अपने समय की सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में होता है। अतः विकास के हमारे प्रयासों में सांस्कृतिक वातावरण की समझ महत्वपूर्ण है। इस दिशा में पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय द्वारा किए गए प्रशंसनीय प्रयासों का विशेष महत्व है। यह उत्सव इसलिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है कि इसमें न केवल पूर्वोत्तर राज्यों की बहुरंगी संस्कृति को दर्शाया गया है अपितु इसमें इन राज्यों के विभिन्न आयामों और सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में भी सहायता मिली है। हालांकि, सरकार के विभिन्न मंत्रालय और विभाग, विशिष्ट उपायों द्वारा पूर्वोत्तर राज्यों के समग्र विकास के लिए प्रतिबद्ध हैं, संस्कृति विभाग के सामने भी कई अहम काम हैं। मुझे विश्वास है कि संस्कृति विभाग इन कामों को प्रशंसनीय रूप से कर सकेगा। यह उत्सव एक नई प्रतिबद्धता और पहल का संकेत है।

सांस्कृतिक विविधता और जैव–विविधता दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और हमारी इन दोनों ही के प्रति पूर्ण प्रतिबद्धता है। यह हमारा उत्तरदायित्व है कि विरासत में मिली अपनी संस्कृति को हम पूरी समृद्धि और विविधता के साथ अपनी भावी पीढ़ियों को सौंपें। आप ऐसे कल की कल्पना करें जब ऊर्जावान नृत्य और ओजस्वी संगीत के ये रूप मात्र अतीत के गौरव के रूप में याद किए जाएंगे। हमें चेतना होगा कि कहीं हमारा कल ऐसा बेरंग न हो जाए कि हमें मुँह छिपाना पड़े, हम ऐसी स्थिति पैदा नहीं होने देंगे। हमारा प्रयास यह भी होना चाहिए कि ऐसा अनुकूल वातावरण तैयार हो जिसमें सांस्कृतिक परंपराएं तथा प्रथाएं फलें–फूलें। प्रगति और समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ते हुए हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत हमारी शोभा है, यह हमें जोड़ती है और इस पर हमें गर्व है। हमें अपनी युवा पीढ़ी को इन कलाओं और सृजनात्मक अभिव्यक्ति को ऐसा ही बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित करना होगा। तब ही हम सुनिश्चित कर पाएंगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में रंग–बिरंगी शालों का ताना–बाना लगातार बुना जा रहा है और पर्वतमालाओं में सुमधुर संगीत के स्पंदनों की गुन–गुन सतत् सुनाई दे रही है और मख़मली हरियाली के फलक पर सजीले नृत्य अपनी रंगीन समरसता बिखेर रहे हैं। इन मूलभूत सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अपनी सामूहिक वचनबद्धता से, आइए, हम इन लुभावने राज्यों की वादियों में सहस्त्रों फूल खिलाएं।

मैं ऑक्टेव 2006 की सफलता की कामना करता हूं।

अनुवाद : **हिंदी अनुवाद एकक,**
संस्कृति विभाग

– अम्बिका सोनी
(साक्षात्कार)

"हर भारतीय अपने–आपको सांस्कृतिक विरासत से जुड़ा महसूस करे..."

भारतीय संस्कृति का वह कौन–सा पहलू है जो आपको सबसे प्यारा लगता है, और क्यों?

वैसे तो भारतीय संस्कृति की अनेक खासियतें हैं पर सबको साथ लेकर चलने, तथा जियो और जीने दो (पीसफुल कोएग्जिस्टेंस) जैसे महान् उदार मूल्यों और परंपरा पर मुझे गर्व है। भारतीय संस्कृति ने जहाँ दुनियाँ को बहुत कुछ दिया है, वहीं काफी कुछ लिया भी है, काफी कुछ सीखा भी है। पर इस सब के बावजूद उसने अपने अनूठेपन को बनाये रखा। यहाँ विभिन्न भाषाओं, धर्मों, संप्रदायों, मतों और विचारधाराओं को हमेशा सम्मान मिलता रहा है। कुल मिला कर कहा जाये तो भारतीय संस्कृति ने अपना एक 'कम्पोज़िट' रूप विकसित किया जिसमें "वसुधैव कुटुंबकम्" और "अतिथि देवो भव" जैसे उदार मूल्यों को परम स्थान मिला। भारतीय संस्कृति के ये सारे पहलू मुझे बहुत ही अच्छे लगते हैं।

5000 सालों से भी पुरानी भारत की संस्कृति को लेकर आपके मुख्य सरोकार क्या–क्या हैं, इस विरासत को आगे बढ़ाने के संबंध में आपका क्या 'विज़न' है?

यह दरअसल बेहद व्यापक सवाल है फिर भी मैं चंद प्वायंट्स में समेट कर अपनी बातें कहूँगी :

हमारा बुनियादी सरोकार सांस्कृतिक जागरूकता पैदा करते हुए एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें हरेक भाषा, मजहब, सम्प्रदाय आदि से जुड़े लोग इस मुल्क की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से अपने–आप को जुड़ा हुआ महसूस कर सकें, उसके साथ अपने–आप को "आइडेंटिफाइ" करके देख सकें, उसे लेकर गौरव का अनुभव कर सकें।

जो अन्य बातें मैं कहूँगी, वे सब इससे ही जुड़ी हुई हैं, मसलन ऐसे उपाय करना और साधन मुहैया कराना जिससे लोगों की सांस्कृतिक चेतना व संवेदना विकसित हो।

भारत की विरासत, जिसमें उसके 'टेंजिबल' और 'इन्टेंजिबल' (स्थूल और सूक्ष्म) दोनों ही रूप शामिल हैं, की रक्षा व उसके संवर्धन के कार्यक्रमों को बढ़ावा देना, लोक संस्कृतियों की रक्षा करके उन्हें फलने–फूलने का मौका देना भी सरकार के सरोकार हैं।

हमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा देना होगा।

आज भारतीय संस्कृति की कुछ चिंताएँ हैं, मसलन (क) हमारी सांस्कृतिक धरोहरों की चोरी। (ख) कई वजहों से सांस्कृतिक विरासतों का नष्ट होना/ह्रास होना। (ग) सूचना क्रांति व आर्थिक डायनामिज्म की वजह से ग्लोबेलाइज्ड वर्ल्ड सिनेरियो में आज सारे विश्व में जो सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं, हम भी उसके दबाव को महसूस कर रहे हैं।

इन समस्याओं को लेकर आपकी क्या राय है तथा उनसे निपटने के लिए सरकार की क्या भूमिका हो सकती है?

हाँ, ऐतिहासिक स्मारकों और मंदिरों से प्राचीन प्रतिमाओं की चोरी की कुछ घटनाएँ सूचित की गई हैं। स्मारकों के आस–पास अनधिकृत निर्माण की अनेक शिकायतें भी विभाग को मिली हैं।

इसी प्रकार सांस्कृतिक विरासतों का क्षरण भी एक बेहद गंभीर स्थिति है। यह दरअसल देश के प्रत्येक नागरिक

श्रीमती अंबिका सोनी पर्यटन और संस्कृति मंत्री

(संक्षिप्त विवरण)

केन्द्रीय पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री श्रीमती अंबिका सोनी का जन्म दिनांक 13 नवम्बर, 1943 को लाहौर में स्वर्गीय श्री नकुल सेन, आई सी एस और श्रीमती इन्दु नकुल सेन की संतान के रूप में हुआ। श्रीमती सोनी दिनांक 14 अक्तूबर, 1961 को श्री उदय सी. सोनी के साथ विवाह सूत्र में बंधीं तथा उन्हें एक पुत्र–रत्न की प्राप्ति हुई।

उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए.(आनर्स), बैंकाक से फ्रांसीसी भाषा और हवाना विश्वविद्यालय से स्पैनिश कला और साहित्य की शिक्षा प्राप्त की।

श्रीमती सोनी की राजनीतिक यात्रा मुख्यतः 1975 में आरम्भ हुई और अनेक महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहने के साथ–साथ वे एक कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी पहचानी जाती रहीं। वस्तुतः वे इन दोनों ही क्षेत्रों को अंतर्सम्बद्ध मानती हैं और उनका पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक राजनीतिक कार्यकर्ता निःस्वार्थ भावना से कार्य करके देश के सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

फुर्सत के समय पढ़ना, यात्रा करना और बागवानी उन्हें प्रिय हैं। भारतीय और पाश्चात्य वाद्य संगीत सुनना वे बेहद पसंद करती हैं, क्योंकि उनके अनुसार – संगीत देश–काल की सीमाओं में नहीं बंधता और मनुष्य को प्रत्यक्षतः ईश्वर से जोड़ता है।

के लिए चिंता का विषय होना चाहिए। राष्ट्रीय स्मारकों तथा धरोहरों के रख–रखाव के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों के साथ–साथ आम लोगों को जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है।

भारतीय कला और संस्कृति का संरक्षण, संवर्धन एवं विकास हमारे मंत्रालय का एक प्रमुख कार्य है। सरकार के पास राष्ट्रीय विरासत स्थल आयोग गठित करने का प्रस्ताव है जो दाय स्मारकों व स्थलों के संरक्षण के संबंध में सरकार को परामर्श देगा तथा उसके लिए मार्गदर्शी सिद्धांत तैयार करेगा।

देश में करीब 3000 राष्ट्रीय स्मारकों की देखभाल केन्द्र सरकार करती है जबकि तकरीबन 5000 स्मारकों की देख–रेख का जिम्मा राज्य सरकारों का है।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण पुरातत्वीय मानदंडों के अनुसार केन्द्रीय संरक्षित स्मारकों का रख–रखाव और संरक्षण करता है।

केन्द्रीय संरक्षित स्मारकों तथा पुरातत्वीय स्थलों पर प्राचीन प्रतिमाओं, मूर्तियों तथा पुरा–वस्तुओं की सुरक्षा तथा संरक्षा सुनिश्चित करने के लिए पहरा तथा निगरानी कर्मचारी तैनात किये गये हैं। केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल, निजी सुरक्षा गार्डों और राज्य पुलिस की लगाकर सुरक्षा को और बढ़ाया गया है। सरकार पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम, 1972 में संशोधन करने पर भी विचार कर रही है ताकि पुरावशेषों के अवैध व्यापार को सख्ती से रोका जा सके।

एन.सी.एफ. (राष्ट्रीय सांस्कृतिक कोष) पहले से ही मौजूद है, स्मारकों के रख–रखाव के लिए भी सांस्कृतिक कोष का गठन किया जा रहा है, उसमें भी निजी क्षेत्र की भागीदारी सुनिश्चित की जा सकेगी। मैंने वित्त मंत्री श्री पी० चिदंबरम् से अपने मंत्रालय का बजट बढ़ाये जाने की भी मांग की है।

> “इसी तरह लोक-कलाएं फले फूलें, इसे लेकर भी हमारा मंत्रालय बहुत ही जागरूक है। संस्कृति विभाग के अधीन आने वाले क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र लोक कला रूपों को पुनर्जीवित करने का सराहनीय काम कर रहे हैं। इसके अलावा कई स्कीमें चलाई जा रही हैं जिनसे अनेक परम्परागत लोक कला रूप पुनर्जीवित हुए हैं”

इसी तरह लोक–कलाएं फले फूलें, इसे लेकर भी हमारा मंत्रालय बहुत ही जागरूक है। संस्कृति विभाग के अधीन आने वाले क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र लोक कला रूपों को पुनर्जीवित करने का सराहनीय काम कर रहे हैं। इसके अलावा कई स्कीमें चलाई जा रही हैं जिनसे अनेक परम्परागत लोक कला रूप पुनर्जीवित हुए हैं।

हम कला वस्तुओं के परिरक्षण के लिए भी पर्याप्त फंड दे रहे हैं। हमारे सभी संग्रहालयों में कला–वस्तुओं का संरक्षण न सिर्फ एक नियमित क्रियाकलाप है बल्कि उसके प्रबन्धन और संरक्षण के लिए प्रशिक्षित एवम् क्वालीफाइड स्टाफ भी मौजूद हैं।

ग्लोबलाइज्ड वर्ल्ड सिनेरियो में दुनिया भर में तेजी से हो रहे सांस्कृतिक परिवर्तनों के संदर्भ में मेरा यह निजी मत है कि सूचना प्रौद्योगिकी का कुशल उपयोग करते हुए हम भारतीय संस्कृति का प्रसार विश्व स्तर पर कर सकते हैं, भारत के मूल्यों, यहाँ के दर्शन व विचारों, संतों की वाणी आदि का अपना महत्व है, मेरा मानना है कि हालांकि पश्चिम के उपभोगवादी वातावरण में ये विचार और मूल्य बेहद उपयोगी और प्रासंगिक साबित होंगे फिर भी हमें सतर्क तो रहना ही है, पश्चिम के अन्धानुकरण से बचना है।

युवा पीढ़ी को भारतीय संस्कृति से जोड़े रखना होगा इसके लिए स्कूली पाठ्यक्रम में आरंभिक स्तर से ही बच्चों को 'कॉम्पोज़िट कल्चर' के मूल्यों से परिचित कराया जा सकता है ताकि बड़े होने पर उनमें अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना हो, साथ ही औरों के प्रति भी उनमें सौहार्द हो।

> **"मेरे लिए संस्कृति का अर्थ यह है कि मुल्क का हर शख्स अपने आप को यहाँ की संस्कृति से आइडेन्टिफाइ कर सके..."**
>
> **– अम्बिका सोनी**

पर्यटन एवं संस्कृति दोनों ही विभाग आपके पास हैं। भारतीय पर्यटन उद्योग को बढ़ावा देने के लिए आपकी क्या योजनाएँ हैं तथा उससे भारतीय संस्कृति को कितना बल मिलेगा?

भारत मूर्त एवं अमूर्त सांस्कृतिक धरोहरों के दृष्टिकोण से एक अत्यंत ही संपन्न राष्ट्र है। यहां की समृद्धि और संस्कृति विदेशी यायावरों, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं, पर्यटकों के लिए प्राचीनकाल से ही आकर्षण का केंद्र रही है। अतः सांस्कृतिक स्थलों को उपयुक्त बुनियादी इन्फ्रॉस्ट्रक्चर (अवसंरचना) प्रदान करके और उन्हें सही ढंग से विकसित करके पर्यटन उद्योग को बढ़ावा दिया जा सकता है।

अधिक संख्या में पर्यटकों को आकर्षित करने वाले महत्वपूर्ण स्मारकों और विश्वदाय स्थलों पर सरकार की ओर से मूलभूत पर्यटक सुविधाएं, जैसे कि प्रसाधन कक्ष, पेय जल तथा शारीरिक रूप से विकलांग पर्यटकों के लिए रैम्प तथा पहिया कुर्सियाँ आदि जैसी मुहैया कराई गई हैं। जहां कहीं भी सम्भव हुआ है लॉन तथा बगीचे विकसित किए गए हैं। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने ऐसे स्मारकों के संबंध में ब्रॉशर्स तथा गाइड पुस्तिकाएं प्रकाशित की हैं, इसके अलावा केन्द्र तथा राज्यों के पर्यटन विभाग भी पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए प्रचार सामग्री प्रकाशित करते हैं।

भारतीय पर्यटन को विशिष्ट श्रेणियों में बांट कर अलग–अलग क्षेत्रों के लिए विशेष योजनाएं बनाई जा सकती हैं, जैसे स्वास्थ्य पर्यटन, ग्रामीण पर्यटन, तीर्थ पर्यटन, प्रवासी भारतीय पर्यटन, बौद्ध पर्यटन, आयुर्वेदिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा पर्यटन आदि। कहा जाता है कि भारत को देखने–समझने के लिए पूरा जीवन भी पर्याप्त नहीं है। पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय ऐसी योजनाएं बनाना चाहता है कि हर विदेशी पर्यटक यहां भाषा की, परम्पराओं की, मान्यताओं की, रीति–रिवाजों आदि की विविधता का अनुभव करे। हम यह भी चाहते हैं कि जो विदेशी पर्यटक एक बार भारत आएं वे बार–बार यहां आना चाहें। हम "रिपीट टूरिज्म" को बढ़ाना चाहते हैं।

इसी संदर्भ में हाल ही में प्रधानमंत्री जी ने घरेलू पर्यटन के महत्व की ओर इशारा करते हुए जो कहा था, उसे ध्यान में रखकर मैं कहना चाहूँगी कि भारतीय समाज में तीर्थाटन की परम्परा रही है, इस दृष्टि से विभिन्न मतावलम्बियों के लिए विशेष पर्यटन पैकेज विकसित किए जा सकते हैं। बोध गया, सारनाथ, धर्मशाला आदि को जोड़ते हुए लेह–लद्दाख तक की बौद्ध तीर्थयात्रा, चार धाम यात्रा, अजमेर शरीफ दरगाह की यात्रा, केरल–कोचीन के प्राचीन चर्चों व सेनेगॉग की यात्रा, श्री हरमन्दिर साहिब की यात्रा, शिरडी यात्रा, माता वैष्णों देवी की यात्रा, मानसरोवर यात्रा, महाकुंभ यात्रा जैसी योजनाओं पर काम करते हुए ऐसे सभी पवित्र तीर्थस्थलों की ओर पूरा ध्यान दिया जाना है।

“ हमें नहीं भूलना चाहिए कि पर्यटन क्षेत्र के विकास से रोजगार की अपार संभावनायें जुड़ी हुई हैं। मेरा मानना है कि भारत में पर्यटन क्षेत्र को यदि पूरी अहमियत दी जाए तो यह रोजगार मुहैया करने वाला सबसे बड़ा माध्यम बन सकता है। ”

'सस्टेनेबल टूरिज्म' की ओर भी हमारा पूरा ध्यान है। भारत का विशाल मध्यम वर्ग विश्व में बड़े उपभोक्ता बाज़ार के रूप में बड़ी–बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लुभा रहा है। आर्थिक उदारीकरण के दौर में आज सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों की भागीदारी की एक अपनी अलग ही अहमियत है। विश्व परिदृश्य बदलने के साथ–साथ आज चारों और विकास कार्यों में निजी भागीदारी पर बल दिया जा रहा है, इस संदर्भ में सरकार पर्यटन के क्षेत्र में भी 'एफडीआई' (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश) के साथ–साथ निजी निवेशों का भी स्वागत करेगी। इसमें सरकार की भूमिका एक 'फैसिलिटेटर' व एक 'कोऑर्डिनेटर' की होगी।

हमें नहीं भूलना चाहिए कि पर्यटन क्षेत्र के विकास से रोजगार की अपार संभावनायें जुड़ी हुई हैं। मेरा मानना है कि भारत में पर्यटन क्षेत्र को यदि पूरी अहमियत दी जाए तो यह रोजगार मुहैया करने वाला सबसे बड़ा माध्यम बन सकता है।

विश्व भारतीय संस्कृति की गहराइयों को अच्छी तरह समझे, इसके लिए क्या प्रयास किए जा सकते हैं?

बेहद संक्षेप में कहूं तो इस संबंध में निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं :

- भारतीय संस्कृति से साक्षात्कार के लिए विदेशों से अधिक से अधिक पर्यटकों को भारत आने के लिए प्रोत्साहित करना।
- भारतीय संस्कृति को विदेशों में प्रसारित करने के लिए विदेशों में स्थित भारतीय मिशनों द्वारा उत्सवों (जैसे भारत महोत्सव) आदि का आयोजन किया जाना जिसके दौरान पारम्परिक व समकालीन कला–विषयों के साथ भारतीय खान–पान और भारतीय भाषाओं की विविधता व समृद्धि पर भी अच्छे ढंग से फोकस किया जाए।
- मैं समझती हूँ कि भारतीय संस्कृति के संबंध में न केवल पड़ोसी देशों जैसे श्रीलंका, नेपाल, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, चीन, जापान, थाइलैण्ड तक ही नहीं बल्कि सारे विश्व में एक सांस्कृतिक 'अवेयरनेस' लाई जा सकती है। जिसमें महात्मा बुद्ध के प्रवचनों आदि के साथ–साथ भारतीय संस्कृति के अन्य पक्षों पर भी पूरा ध्यान दिया जा सकता है।
- ग्लोबलाइज्ड वातावरण में सूचना प्रौद्योगिकी का बेहतर इस्तेमाल करते हुए भारतीय संस्कृति का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समुचित प्रसार करने की भी पूरी गुंजाइश है।

प्रस्तुति : **मोहिनी हिंगोरानी**
सहयोग : **मीमांसक, विकास वर्मा**

कृष्ण का विश्वरूप : एक अध्ययन – माध्यम चित्रकला

– नीना रंजन

'भारतीय चित्रकला में विश्वरूप' विषय पर मैंने बरसों पहले सामग्री एकत्रित करना आरंभ किया था क्योंकि मैं गीता में अर्जुन द्वारा विश्वरूप दर्शन की परिकल्पना और इसके इतिहास को समझना चाहती थी। इतने बरसों में इस विषय पर मैंने जो शोध किया है और जो अद्भुत सामग्री एकत्रित की है उसकी एक झलक आपको इस लेख में मिलेगी।

'विश्वरूप' विशेषतः भगवान के उस रूप को इंगित करता है जब कृष्ण के रूप में भगवान का अवतार हुआ। 'विश्वरूप' का अर्थ है 'भगवान का वह रूप जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया है।' इस रूप के कुछ तत्व, एकरूप और

“'विश्वरूप' विशेषतः भगवान के उस रूप को इंगित करता है जब कृष्ण के रूप में भगवान का अवतार हुआ। 'विश्वरूप' का अर्थ है 'भगवान का वह रूप जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया है।' इस रूप के कुछ तत्व, एकरूप और बहुरूप की 'प्रजापति' और 'पुरुष' जैसी प्राचीन भारतीय संकल्पनाओं में देखे जा सकते हैं। ”

बहुरूप की 'प्रजापति' और 'पुरुष' जैसी प्राचीन भारतीय संकल्पनाओं में देखे जा सकते हैं। 'विश्वपुरुष' का

विश्वरूप, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा, 20वीं शती का चतुर्थांश, कृष्ण वर्ण कपड़े पर एक्रेलिक पेंट, 45×28 से.मी., श्री गोकुल बिहारी पटनायक, खुर्दा, उड़ीसा के निजी संग्रह में विद्यमान।

प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' (1000 ईसा पूर्व) में मिलता है और विश्व का संपूर्ण चित्रण पूरे गौरव के साथ गीता के अध्याय X और XI (400 ई.) में विद्यमान है।

कृष्ण को, त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) में विष्णु का अवतार माना गया है। महाभारत की कथा में, कुरुक्षेत्र के युद्ध में जब कौरव और पाण्डव एक–दूसरे के सामने होते हैं, उस समय अर्जुन के सखा और सारथी, श्रीकृष्ण अवसाद में डूबे अर्जुन को इस रूप का दर्शन कराते हैं। अर्जुन अपने निकट संबंधियों के साथ युद्ध नहीं करना चाहता और इस बात का चिंतन करता है कि हम भौतिक प्रलोभनों के लिए एक–दूसरे से क्यों लड़ें जबकि सब कुछ एक दिन नष्ट हो जाना है। ऐसे मार्मिक दृश्य में, महाभारत का रचयिता कथा में तत्व का ज्ञान कराने वाली 'भगवद्गीता' (भगवान् कृष्ण का गीतोपदेश) का समावेश कर देता है। युद्ध के उमड़ते बादलों के बीच जब भाई–भाई की जान का दुश्मन बना खड़ा है ठीक उस समय पाठक अकस्मात तत्वज्ञान के शान्त और गहरे सागर में उतर जाता है।

विश्वरूप, राजस्थान, 19वीं शती कागज पर ओपेक वाटर कलर, 21.2×18 से.मी., साराभाई फाउंडेशन, अहमदाबाद, गुजरात, संख्या–123

गीता की रचना अर्जुन और कृष्ण के बीच एक संवाद के रूप में की गई है। रणभूमि में इसका चित्रांकन मात्र एक भौतिक स्थल की ओर ही संकेत नहीं करता, अपितु यह एक मनोस्थिति का भी सूचक है। हम देखते हैं शिथिल, संदेही और हतोत्साहित अर्जुन जिसने अपना धनुष, 'गांडीव' एक ओर फेंक दिया है और जो युद्ध करने के अपने कर्तव्य को स्वीकारने में स्वयं को असमर्थ पाता है। इस बिंदु पर अर्जुन को दिए गए कृष्ण के उपदेश ही गीता का मूल विषय हैं। जब परमाणु बम के जनक, विलियम ओपनहीमर ने हिरोशिमा और नागासाकी पर की गई बम

वर्षा की तस्वीरें देखीं, तो उन्होंने इसकी तुलना गीता, विशेषतः अध्याय XI, श्लोक 12 में 'विश्वरूप' को चित्रित करने वाले बिम्बों से की : 'यदि सहस्त्रों सूर्य आकाश में एक समय उदित हों तो उनका एकीभूत आलोक उस महान् आत्मा के तेज के समान होगा।'

(बार्बरा स्लेपर मिलर द्वारा रचित 'भगवद्गीता – एक अनुवाद से उद्धृत, श्लोक 12, 11वां अध्याय)

देवत्व की सर्वशक्तिमत्ता एक ऐसी संकल्पना है जो अधिकांश संस्कृतियों में समान रूप से विद्यमान है और अनेक धार्मिक परंपराओं में परिलक्षित होती है। गीता की विषय–वस्तु लाखों हृदयों में प्रतिष्ठापित है, तथा यह विश्व–साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधियों में से एक है। आसक्ति अथवा फल की इच्छा से निरपेक्ष रहकर, कर्तव्य के प्रति निष्ठा के इसके सिद्धांत ने धनी और निर्धन, ज्ञानी और अज्ञानी, सभी को जीने की एक राह दिखाई है। यह जीवन के गहनतम और मूलभूत प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करती है। अध्याय XI विश्वरूप दर्शन की उस प्रक्रिया को उद्घाटित और परिलक्षित करता है जिसमें अर्जुन, संपूर्ण ब्रह्माण्ड को कृष्ण रूप के चारों ओर सिमटा हुआ देखता है। कृष्ण, अर्जुन को दिव्य चक्षुओं से उपकृत करते हैं ताकि अर्जुन उनके असीम ईश्वरीय स्वरूप को देखने में समर्थ हों। अर्जुन प्रभावोत्पादक तेजोमय विराट स्वरूप को देखता है – एक सर्वव्यापी दिव्य पुरुष के अंश के रूप में भूत, वर्तमान और भविष्य – के एक साथ दर्शन करता है। वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त चराचर जगत का, उसकी उत्पत्ति से वर्तमान तक और तत्पश्चात् भविष्य में होने वाले अस्तित्व का दर्शन वहीं उस देह में करता है।

अर्जुन, 'विश्वरूप' में सभी देवों तथा अनेक प्राणियों के दर्शन करता है। कृष्ण का यह अद्भुत दर्शन, बहुरूपी शरीर में अनगिनत मुख, नेत्र, दिव्य आभूषण और दिव्य शस्त्र धारण किए हुए है और यह ऐसा सर्वव्यापी, असीम रूप है जिसका कोई अंत, कोई मध्य एवं कोई प्रारंभ नहीं। अर्जुन सब ओर से दीप्त अग्नि के एक ऐसे पुंज का

विश्वरूप, राजस्थान, जयपुर/अलवर शैली, पटियाला में निर्मित, दीवार पर फ्रेस्को पेंटिंग। 100×90 से.मी., किला मुसारक, पटियाला।

"भारतीय बहुत पहले से जानते थे कि जैविक मानव के सीमित 'लघु ब्रह्माण्ड' का, अस्तित्व के कई स्तरों पर 'वृहत् ब्रह्माण्ड' से संबंध होता है। इस अवधारणा से इस विश्वास को बल मिलता है कि 'मानव शरीर ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति है', अर्थात् 'यत ब्रह्माण्डे तत् पिंडे'।"

अवलोकन करता है जिसमें सभी प्राणी निःस्सहाय रूप से काल के ग्रास बन रहे हैं। यह कृष्ण का काल–स्वरूप है। इस संवाद के अंत में, कृष्ण, अर्जुन को विराट रूप दिखाता है कि वह तो केवल पूर्व निश्चित कर्म फल पाने का निमित्त मात्र है। अर्जुन को आत्मिक बल की अनुभूति होती है और वह धर्म के मार्ग पर चलने के लिए अपना गांडीव उठा लेता है।

यह उल्लेखनीय है कि 'विश्वरूप' का यह चित्रण वेदों में सर्वरूप के चित्रण से बहुत भिन्न नहीं है। वस्तुतः, यह स्वरूप इसे सीधे ऋग्वेद में उल्लिखित ब्रह्म पुरुष (10.90.1) और भगवान् विश्वकर्मा (10.82.3.5) – परम शिल्पी के चित्रणों से जोड़ता है। कृष्ण के अत्यंत प्रिय केवल अर्जुन को ही संपूर्ण विश्वरूप के दर्शन का सौभाग्य मिला है। यह दृश्य गलती से संजय भी देख लेता है जो दृष्टिहीन धृतराष्ट्र को युद्ध स्थल की घटनाओं का वृतांत सुनाता रहता है। अर्जुन, कृष्ण के इस तेजोमय, अनन्त, अनादि, अद्भुत सर्वरूप से विस्मित हो उठता है और कृष्ण को अपने सौम्य रूप में आने का आग्रह करता है।

इस विषय से संबंधित कला–चित्र, दर्शकों को स्तंभित और व्याकुल कर देते हैं परंतु साथ ही उसके मन को शान्त करते हुए कहते हैं कि विश्वरूप का यही यथार्थ है। मैं इस विषय पर लगभग 50 कला–चित्र एकत्र कर पाई हूं। ये चित्र कागज, कपड़े और कैनवास पर, पाण्डुलिपियों में बनाए गए हैं। इनमें से कुछ भित्तिचित्र भी हैं।

विश्वरूप, श्रीमद् भागवतगीता केश्विरी; 19वीं शती, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, सं.– 60.11

इन्हें देश–विदेशों से पुस्तकों, पाण्डुलिपियों, सूचीपत्रों, प्रकाशनों, संग्रहालयों, कलावीथियों, पुस्तकालयों, निजी संग्रहों तथा भित्तिचित्रों से लिया गया है। (पावन दृश्यों तथा तत्वज्ञान के ग्रंथों, जिनकी हम प्रतिदिन पूजा करते हैं, गहराई से जुड़े इन कला–चित्रों की व्याख्या करना दुष्कर है)। इन्हें समझने के लिए विश्वरूप की संकल्पना के उद्‌गम, इतिहास और विकास से संबंधित दर्शनशास्त्र, धर्म, इतिहास, पौराणिकता तथा प्रतिमाविज्ञान के अन्तर्संबंधों की समझ तथा अध्ययन की आवश्यकता है।

इस लेख के साथ चार कला–चित्र हैं। इस विषय पर लगभग सौ कला–चित्र मौजूद हैं, ये कला–चित्र पूरे विश्व में छितरे पड़े हैं। इनमें बुनियादी समानताएं होते हुए भी प्रत्येक कला–चित्र अपने आप में अलग है। इन कला–चित्रों में निःसंदेह श्यामवर्ण वाले भगवान् श्रीकृष्ण को प्रमुखता दी गई है। तथापि, श्री कृष्ण की विशाल छवि के भीतर, बाहर और चारों ओर दर्शाई गई वस्तुएं अत्यंत चित्ताकर्षक हैं। कलाकारों ने अपनी–अपनी कल्पनाशक्ति के अनुसार अभिनव चित्रण किए हैं। कुल मिलाकर प्रत्येक चित्रकार इस पवित्र जगत, उसके पदानुक्रम का अपने–अपने ढंग से चित्रण करता है और सर्वव्यापिता की अवधारणा को प्रस्तुत करने के प्रयास में अपनी अलग छाप छोड़ता है।

इन कला–चित्रों में भगवान् श्रीकृष्ण को सामान्यतया आभूषणों से सुसज्जित चित्रित किया गया है, साथ ही, कई भगवानों विशेष रूप से त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु और महेश), गोपियों के महारास नृत्य, श्रीकृष्ण के महावतार रूप और बाल–रूपों को दर्शाया गया है। किन्हीं चित्रों में दिखाया गया है कि महाकाल, अपने विशाल और रुधिरावृत मुख से असंख्य मानवों को अपना ग्रास बना रहे हैं, जबकि उनके कुछ हाथ मानव–मुंडों को उनके केशों से पकड़े हुए हैं, जबकि कुछ हाथों में युद्ध के असंख्य शस्त्र दिखाए गए हैं। कुछ कला–चित्रों में विश्व के भूत और वर्तमान, इस समय विद्यमान तथा भविष्य में आने वाली प्रजातियों, स्वर्ग–लोक और अधोलोक को

“‘विश्वरूप’ की विचारधारा का मूल वह भारतीय दार्शनिक परंपरा और विश्व विचार है जो यह मानता है कि प्रत्येक पदार्थ की अपनी एक जैव सत्ता होती है, जिसमें जीवन के प्रत्येक आयाम को अन्य बातों के साथ उसकी अंतःसंबद्धता और अंतःनिर्भरता के परिप्रेक्ष्य में श्रेष्ठ माना जाता है।”

दर्शाया गया है। इन कला–चित्रों में अक्सर आमने–सामने खड़ी सेनाएं दिखाई जाती हैं और अर्जुन को श्रीकृष्ण द्वारा चलाए जा रहे रथ में बैठे हुए अथवा श्रीकृष्ण के सामने विस्मयाकुल मुद्रा में हाथ जोड़कर खड़े हुए दर्शाया जाता है।

मैं यह बताना चाहती हूं कि 'विश्वरूप' की विचारधारा का मूल वह भारतीय दार्शनिक परंपरा और विश्व विचार है जो यह मानता है कि प्रत्येक पदार्थ की अपनी एक जैव सत्ता होती है, जिसमें जीवन के प्रत्येक आयाम को अन्य बातों के साथ उसकी अंतःसंबद्धता और अंतःनिर्भरता के परिप्रेक्ष्य में श्रेष्ठ माना जाता है। यह विचार–धारा मानव शरीर को एक जैव तथा आत्मिक सत्ता मानती है। इस संस्कृति के भीतर, शरीर में परलोक के साथ संबंध स्थापित करने और वर्तमान, भूत और भविष्य काल में स्वयं के साक्षात्कार हेतु प्रणालियों का विकास करने की क्षमता विद्यमान है। यदि हम सरसरी तौर पर भी विवेचन करें तो यह पता चलता है कि भारतीय बहुत पहले से जानते थे कि जैविक मानव के सीमित 'लघु ब्रह्माण्ड' का, अस्तित्व के कई स्तरों पर 'वृहत् ब्रह्माण्ड' से संबंध होता है। इस अवधारणा से इस विश्वास को बल मिलता है कि 'मानव शरीर ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति है', अर्थात् 'यत ब्रह्माण्डे तत् पिंडे'।

– **नीना रंजन,** आई.ए.एस.
ईमेल : nranjan@nic.in

विजय वर्मा

भारतीय मृण्मूर्तिकला

''सुनो छोटी-सी गुड़िया की लंबी कहानी''

पकाई हुई मिट्टी के खिलौने, मूर्तियां इत्यादि बनाने की कला को साधनहीन व्यक्ति की कला कहा गया है। हालांकि भारत में सम्पन्न वर्ग द्वारा भी उसको प्रश्रय मिला है। इस कला को 'लोककला' मान लेना भी गलत होगा : विषय और तकनीक दोनों दृष्टियों से, उसके बहुत से नमूने एक समुन्नत नागरकला और एक परिष्कृत नागर जीवन शैली को दर्शाते हैं। एक मत के अनुसार भारतीय मृण्मूर्तियों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है – सामान्य जनों के लिए बनाई गई, अक्सर अपरिष्कृत और अकलात्मक मूर्तियां इत्यादि, संपन्न व सुरुचिपूर्ण वर्ग के लिए बनाई गई मूर्तियां इत्यादि व श्रेष्ठ प्रकार के ठिकरे या 'प्लॉक्स' जो मंदिरों, खासतौर पर ईंटों के स्तूपों, मंदिरों इत्यादि में अलंकरण के प्रयोजन से बनाये जाते थे।

"एक मत के अनुसार भारतीय मृण्मूर्तियों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है - सामान्य जनों के लिए बनाई गई, अक्सर अपरिष्कृत और अकलात्मक मूर्तियां इत्यादि, संपन्न व सुरुचिपूर्ण वर्ग के लिए बनाई गई मूर्तियां इत्यादि व श्रेष्ठ प्रकार के ठिकरे या 'प्लॉक्स' जो मंदिरों, खासतौर पर ईंटों के स्तूपों, मंदिरों इत्यादि में अलंकरण के प्रयोजन से बनाये जाते थे।"

मृण्मूर्तियां बनाने में आसान थीं, उनको लाना–ले जाना, उठाना–धरना सरल था और टूट जायें तो दूसरी बना लेना या ले आना कम खर्चीला था। अतः उनको व्यापक स्वीकृति मिलती रही है। अक्सर उनकी शैली में, युग–विशेष की पत्थर में उत्कीर्ण कला का प्रतिबिम्ब मिलता रहा है और इसलिये उनको रचनात्मकता का एक समानान्तर संसार कहा जा सकता है, लेकिन उनका और उनके विषयों का दायरा पाषाणी मूर्तिकला से भी ज़्यादा व्यापक रहा है। मृण्मूर्तियों में युगों–युगों में मानव जीवन के

बन्दर – सिन्धु सभ्यता लगभग 2300 ई.पूर्व

मातृदेवी, मोहनजोदड़ो, टेराकोटा, लगभग 2300 ई. पूर्व

समस्त विचारों–व्यवहारों और समकालीन साहित्य का सहज और अकृत्रिम अंकन होता आया है। उनको, शिल्प के क्षेत्र में, लोक साहित्य के समतुल्य के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कुमार स्वामी ने कहा है – वे न केवल मनुष्य की धार्मिक संस्कृति के इतिहास के दस्तावेज़ हैं वरन् कला के इतिहास के अध्ययन के लिये भी मूल्यवान हैं। स्व. वासुदेव शरण जी अग्रवाल के शब्दों में – ''चार सहस्र वर्षों से अधिक प्राचीन (यह कला ऐसी पुस्तक है) जिसके, पूरे अर्थों को भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिए दुहना आवश्यक है'' (भारतीय कला)।

ये मृण्मूर्तियां हाथ से डौलिया कर (हेन्ड–मॉडेल्ड) अथवा सांचे (या सांचों) में दबाकर (मोल्ड मेड) अथवा, कुछ हाथ से और कुछ सांचे से बनाई जाती रही हैं। इस प्रकार बनी मूर्तियों को 'ऐप्लिके' तकनीक से मिट्टी की पट्टियां अथवा टिकुलियां चिपका कर, खरोंच कर ('इनसाईज' करके) चुटकियों से उभार कर ('पिंच' करके) और ठप्पे से 'इंप्रैस्ड' डिज़ाइन बना कर सजाया भी जाता रहा है। मूर्तियों पर पोत (स्लिप) चढ़ाने और रंग चढ़ाने का भी रिवाज रहा है।

दक्षिण में उपयुक्त मिट्टी के अभाव में मृण्मूर्तिकला का प्रसार कम हुआ। इसके अभाव में अक्सर काओलिन (खड़िया मिट्टी) को माध्यम बनाया गया लेकिन सातवाहन काल के अलावा इसका भी प्रचलन कम रहा।

मौर्यकाल के आरम्भ तक

अब तक प्राप्त सबसे पुरानी मृण्मूर्तियां, लगभग 3000 वर्ष ईसा पूर्व की, बलूचिस्तान में कुल्ली व ज़ोब से मिली हैं। इनमें शायद मातृदेवी की, केवल धड़ को दर्शाने वाली, पैंदेयुक्त मूर्तियां व सांडों के सजीव चित्रण प्रमुख हैं। ये सब हाथ से डौलिया कर–मिट्टी को चुटकी से उभारकर व पोरूओं से दबा कर बनाने की आदिम प्रक्रिया से बनाई गई हैं। शिरोभूषा, गहने इत्यादि मिट्टी की बत्तियों और टिकुलियां को चिपकाकर, आंख और मुंह इत्यादि खरोंच कर दर्शाये जाते थे। सिन्धु घाटी सभ्यता की मृण्मूर्तियों में, हालांकि तकनीक पुरानी ही रही, पर एक कलात्मक विकास, विविधता और माध्यम के ऊपर बेहतर पकड़ के दर्शन होते हैं। इस काल में (लगभग 2400 से 1700 ईसा पूर्व) पूरी–पूरी स्त्री मूर्तियां बनीं जो अपनी विचित्र, पंखनुमा शिरोभूषा के लिये जानी जाती हैं और शायद मातृदेवी को दर्शाती हैं। पुरुष मूर्तियां कम बनीं लेकिन पशुओं की, विशेषतः सांडों की बहुत बड़ी संख्या में बनीं। यदा–कदा सांचों का भी प्रयोग होता था। लेकिन कुल मिलाकर, श्री सरस्वती के मतानुसार, सिन्धु सभ्यता की मृण्मूर्ति कला, उस सभ्यता के पत्थर और ब्रौंज, के काम से

कमतर थी।

जहां तक राजस्थान में, कालीबंगन की सैन्धव सभ्यता (2300 ई०पू० से 1750 ई० पू० तक) का प्रश्न है, उत्खनन में वहां बहुत कम मानव मूर्तियां मिली हैं हालांकि सिन्धु घाटी जैसे ही पशुओं के अंकन बड़ी मात्रा में मिले हैं। इनमें सिर झुकाकर झपटते हुए सांड का चित्रण खासतौर पर स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है।

कालीबंगन जैसे अन्य हड़प्पन और उत्तर–हड़प्पन केन्द्रों जैसे गुजरात में लोथल (2500 ई०पूर्व से 1600 ई० पूर्व तक) और सूरकोटड़ा (2300 ई०पू० से 1700 ई०पू०) में भी रोचक पशु अंकन मिले हैं लेकिन कालीबंगन की तरह लोथल में भी मृण्मय मातृ देवियां नहीं मिली हैं।

सैन्धव सभ्यता की समाप्ति व ऐतिहासिक युग की शुरुआत तक के 'अन्धेरे युग' के नमूने कम ही मिले हैं और, अपवादों को छोड़कर,उनमें मृण्मूर्तिकला में आई गिरावट झलकती है। 'सैन्धव सभ्यता की अद्‌भुत मूर्तिकला उस सभ्यता के साथ ही समाप्त हो गई'।

मौर्य युग (323–187 ई0 पूर्व)

कई कारणों से उत्खनन में अथवा सतह पर मिले मृण्मूर्तिकला के नमूनों के सही काल– निर्धारण में समस्याएं आती रही हैं और इसको लेकर विद्वानों में काफी मतभेद भी रहे हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह भी रही है मातृदेवी की हाथ से डौलिया कर बनाई गई मूर्तियां जिन्हें स्टैला क्रैमरिश ने 'कालनिरपेक्ष' या 'एजलैस' की संज्ञा दी है, अनेक कालों में लगभग एक–सी आदिम व अविकसित प्रक्रिया से बनती रही हैं। इसके साथ ही एक श्रृंखला क्रमशः विकसित होती तकनीक को दर्शाने वाली काल–सापेक्ष मूर्तियों की रही है, लेकिन कुल मिलाकर काल–निर्णय का मामला पेचीदा ही रहता है और इसमें बहुत ज़्यादा निश्चयात्मकता संभव नहीं है।

मौटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि संपूर्णतः हाथ से हौलिया कर बनाये गए मातृदेवी के अंकन अक्सर पुराने हैं (हालांकि वे बाद तक भी बनते रहे) जबकि मौर्य युग की खास बात यह है कि सिर सांचे (संचक या मातृका) से व धड़ डौलिया कर बनाये जाने लगे। दूसरी विशेष बात यह है कि पटना में बुलन्दीबाग से कुछ नर्तकियों, नटियों व बालकों के ऐसे चित्रण मिले हैं जो लगभग सम्पूर्णतः विदेशी हैं और शायद विदेशों से आये कलाकारों द्वारा बनाये गये हैं। इसके विपरीत पटना में ही गोलकपुर से प्राप्त एक सिर विहीन विशिष्ट प्रतिमा मिली है जो मृण्मूर्तिकला के क्षेत्र में भी एक वैसी ही समुन्नत व नागर परम्परा की द्योतक है जैसी पाषाणी मूर्तिकला के क्षेत्र में दीदारगंज की अनुपम चंवरधारिणी है।

दो शब्द यहां मातृदेवी के अंकनों और विविध आकार के विदेशियों को दर्शाने वाले शिल्पों के संबंध में अनुपयुक्त न होंगे। विभिन्न रूपों में और विभिन्न कालों में मातृदेवी अथवा प्रजनन और पल्लवन की प्रतिकला की प्रतीकरूपा नारी मूर्तियों की पूजा आदिकाल से भारत और मध्यपूर्व एशिया सहित भूमध्य सागर तक के प्रदेश में होती आई है। 'साहित्य में उसे असुरों की देवी माया और देवों की माता अदिति कहा गया है। आगे चलकर उसे श्री लक्ष्मी कहा जाने लगा। अदिति, इश्तर, आईसिस, इन्निनी, अनाहिता' इत्यादि नाम भी उसी के थे। प्रायः वस्त्रहीन, बड़ी और जटिल संरचना वाली शिरोभूषा और पृथुल कटिप्रदेश वाली इन मूर्तियों में अक्सर प्रजनन अंगों को प्रमुखता से दर्शाया गया है। कभी–कभी साथ में एक बालक भी दिखाया गया है। भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त नग्नकबंध अथवा लज्जागौरी की, सिर के स्थान पर कमल के अंकन वाली मूर्तियां भी इसी आदिम जनन शक्ति को

रूपायित करती लगती हैं।

दूसरे, प्रायः प्रत्येक युग में, विदेशी दिखने वाली नारी पुरुषों का रूपांकन भी मृण्मूर्तियों में दीख पड़ता है। मौर्यकाल से प्रारम्भ करके, ग्रीक, शक, कुषाण, हूण इत्यादि बराबर भारत में आते रहे और उनके रूप भी भारतीय कुम्हारों ने मिट्टी में उकेरे।

मथुरा से पूर्व–मौर्य से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी तक के नमूने बड़ी संख्या में मिले हैं हालांकि वहां से प्राप्त, काले रंग की, पूरी तरह हाथ से डौलिया कर बनाई गई, पक्षी जैसे मुखों वाली मातृमूर्तियों को अब पहले जितना पुराना नहीं माना जाता। मथुरा से विदेशियों के भी महत्वपूर्ण अंकन मिले हैं जिनमें खड़े हुए ईरानी व बैठकर खाना खाते विदेशी की मूर्तियां सम्मिलित हैं। बक्सर से प्राप्त, पहले मौर्य युगीन मानी जाने वाली मूर्तियां, श्री सरस्वती की राय में शुंग युग की हैं।

शुंग काल (दूसरी–पहली शती ई0 पूर्व)

इस युग में मृण्मूर्तिकला की विषय वस्तु में विस्तार हुआ और समूचा फलक सांचे में दबा कर बनाये जाने का प्रचलन आम हो गया। हालांकि कुछ मूर्तियां मौर्य युग की मिश्रित प्रक्रिया से भी बनाई जाती रहीं। प्रारम्भ में उकेरना उथला, अर्थात् कम गहरा था। लेकिन बाद में मूर्तियों में बेहतर, गोलाई और गहराई लिये हुए की गई कारीगरी मिलती है। गलते–गोलों का ठप्पा लगा कर अंकन करने की पुरानी तकनीक भी काम में लाई गई। कुल मिलाकर, शुंग मृण्मूर्तियों का रचना–संसार, भजा विहार और सांची तथा भरहुत के स्तूपों में परिलक्षित समकालीन पाषाण कला की तरह विगत (डिटेल) से भरापुरा, स्वप्निल, प्रमुदित, हंसता–खेलता, सहज और अकृत्रिम रूप से सुसज्जित और व्यापक है और राजस्थानी गीत के 'मांडयो चूंडयो' को साकार करता हुआ लगता है। उनमें जीवन रस का भरपूर पान करती जिजीविषा के दर्शन होते हैं। इसका एक प्रतिफलन मिथुनों और दंपति–अंकनों में मिलता है। कामक्रीड़ा का अंकन भी इस युग से मिलने लगता है। इसी प्रकार देवी–देवताओं का अंकन भी मिलने लगता है। श्री सतीश चन्द्र काला के अनुसार, मौर्य साम्राज्य की समाप्ति पर 'दरबारी कला' का पराभव हुआ और कलाकार स्वतंत्रता के पथ पर चल पड़े।

इस युग की प्रतिनिधि रचनाओं में निम्न सम्मिलित हैं :

1. बसाढ़ (वैशाली) से प्राप्त कमलवन में सनाल–कमल खड़ी, सपक्ष श्री लक्ष्मी।

2. कोसम (कौशाम्बी) से प्राप्त सपक्ष कामदेव, दंपति व छः स्त्री–पुरूषों को वन–विहार के लिये ले जाता गोष्ठीयान, राजघाट, वाराणसी से प्राप्त और भारत कला भवन में संग्रहित एक भारतीय मेले का विविधांगी व रोचक निरूपण।

3. अहिच्छत्र से प्राप्त मिथुन।

4. तामलुक (ताम्रलिप्ति) से प्राप्त श्रीलक्ष्मी जो अब आक्सफोर्ड में है और जिसे स्टैला क्रैमरिश ने 'अप्सरा पंचचूड' और जान्सटन ने मातृदेवी माना है। इसकी दो खण्डों वाली शिरोभूषा, उसमें टंके पांच प्रतीक चिह्न दर्शाते हेअर पिन, पटके पर प्रदर्शित चार 'तावीज' यथा मछली, चिड़िया, हिरण, मकर, और जंघा पर चार यक्ष इसको एक अप्रतिम कृति बनाने में योग देते हैं।

राजस्थान में रेढ़ और नगर से शुंग कुषाणकालीन नमूने मिले हैं। रेढ़ का शिव–पार्वती टिकरा जिस पर अभ्रक मिला लाल पोत चढ़ा है और नगर की, काओलिन की महिषासुर मर्दिनी व कामदेव–रति प्रसिद्ध है। भरतपुर म्यूज़ियम में, इन कालों की, नोह आदि से प्राप्त रोचक मूर्तियां हैं इनमें कई बच्चों सहित मातृका व शायद मूलतः पूजा में प्रयुक्त पोखरों (वोटिव टैंक्स) का भाग रही मातृका, संगीतज्ञ और

दीपधारी पुरुष उल्लेखनीय हैं।

कुषाण (लगभग 1–176 ई०) व सातवाहन (लगभग 72 ई० पू० से 250 ई०) काल

उत्तर भारत में कुषाणों ने पाषाण में तक्षण पर ज्यादा बल दिया और शायद इसी कारण इस युग की मृण्कला में किंचित् गिरावट दीख पड़ती है जिसका एक पहलू यह भी था कि सांचों का उपयोग छोड़कर फिर से पूरी तरह हाथ से डौलियाने की पद्धति अपनाई गई। कभी–कभी पकाने का काम भी अच्छा नहीं होता था व भूसे की मात्रा अधिक होने के कारण मिट्टी भी घटिया रहती थी।

कुषाण काल के कुछ गिने–चुने उल्लेखनीय मृण्मय उत्पाद ये हैं : शूपर्क (मछुए) पर खड़े कामदेव, मथुरा के सपक्ष सूर्य, मिट्टी के कगार वाले पोखर (वोटिव टैंक्स), स्थूलकाय, विकट मूर्तियों और अहिच्छत्र के रंगे बबुए।

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने लक्षित किया है कि इस युग में 'कलात्मक शैली में जो ह्रास हुआ, उसकी कुछ पूर्ति लक्षण युक्त प्रतिमाओं के रूप में हो जाती है जैसे नागी, कुबेर, हारीति, वसुधारा'।

उधर, दक्खन में सातवाहनों की मृण्मूर्तियों में एक विशिष्ट तकनीकी नवीनता, अर्थात् डबल सांचों का प्रयोग जिससे समूची, प्राकृतिक गोलाई लिए हुए और भीतर से पोली मूर्तियों का निर्माण

गंगा, अहिच्छत्र उ.प्र., गुप्त काल, 5वीं शती ई०

संभव हुआ, मिलती है। शायद इसके पीछे रोमन प्रभाव था। लेकिन तीसरी–चौथी शताब्दियों में इस कला का पराभव हो गया। टेर से प्राप्त नग्नकबन्ध, नेवासा से प्राप्त लघु बौद्ध मन्दिर और मुस्कराता हुआ बालक कुछ उल्लेखनीय कृतियां हैं।

गुप्तकाल (320–540 ई0)

कलाओं के इस स्वर्णयुग में सांचों के प्रयोग के साथ ही मृण्मय कला के एक गौरवशाली अध्याय का सूत्रपात हुआ और चारों प्रकार से मूर्तियां बनीं :

1. एक सांचे के उपयोग से,
2. दो सांचों के उपयोग से,
3. कुछ सांचे से, कुछ डौलिया कर, व
4. पूरी तरह डौलिया कर

जिस प्रकार वास्तुशिल्प में,वैसे ही मृण्मूर्तियों में भी गुप्तकला में एक राष्ट्रव्यापी शैली का विकास हुआ जिसका क्षेत्र–विस्तार असम में तेजपुर से सिन्ध में मीरपुरखास तक और भीतरगांव में महाकौशल तक था। एक और महत्वपूर्ण बात यह हुई कि मन्दिरों और घरों में पकाई हुई मिट्टी के बड़े फलकों को लगाने की प्रथा चल पड़ी। मन्दिरों और स्तूपों में इन फलकों का ऐसा प्रयोग, गजकारी या स्टकों के ऐसे ही प्रयोग के समानान्तर था। वासुदेवशरण जी के ही शब्दों में, 'पूर्व–मध्यकाल में वास्तु–निर्माण की यह विशेषता थी, जैसे नालन्दा में भी पाया जाता है।''

गुप्तकाल के कुम्हार मिट्टी को सावधानी से तैयार करते थे, और मूर्तियों को आग में पकाने में भी सावधानी बरतते थे। उनका मूर्तिनिर्माण साफ–सुथरा और बिना सजावट के अतिरेक के, विषय पर पूरी पकड़ और उस काल के सुरुचिपूर्ण और संभ्रान्त जीवन को दर्शाने वाला होता था। विभिन्न प्रकार की विशिष्ट केश सज्जायें, स्त्री व पुरूष दोनों की, खास तौर पर ध्यान खींचती थीं। बड़ी मूर्तियों पर अक्सर पकाने से पहले पोत (स्लिप) चढ़ाया जाता था। कुछ मूर्तियों पर पकाने के बाद रंग भी किया हुआ मिलता है।

गुप्तकाल की बेहतर मूर्तियों में एक अभिजात सौष्ठव मिलता है। मूर्तियों के अपने–अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व व भंगिमायें हैं और उनमें से मानों एक कलात्मक ऊष्मा कहीं गहरे से उठकर विकिरित होती लगती है। दूसरी ओर यह भी सही है कि शुंग और कुषाण–गुप्त संक्रमण कालों वाली सहजता, उत्फुल्लता और जीवन्तता गुप्त काल में कम मिलती है।

गुप्तकाल की मृण्मूर्तिकला के श्रेष्ठ उदाहरणों में निम्न गिनाये जा सकते हैं :

1. भीतरगांव के ईंटों के मन्दिर में शिव–पार्वती फलक व अन्य फलकों के अवशेष, लखनऊ, म्यूज़ियम में सुरक्षित बाल–गणेश व बाल–कार्त्तिकेय में लड्डुओं के लिए स्पर्धा का अंकन।

2. अहिच्छत्र से प्राप्त गंगा–यमुना की आदमकद मूर्तियां और शिव पार्वती के शीश, किन्नर मिथुन और दक्ष यज्ञ–ध्वंस के फलक।

3. राजघाट, वाराणसी से प्राप्त अनेक नमूने जिनमें डमरू बजाते बालक के छोटे अंकन सम्मिलित हैं। भारत कला भवन में संरक्षित झूला झूलती स्त्री का अंकन।

4. सिंध में मीरपुरख़ास के स्तूप से प्राप्त सामग्री जिसमें मध्यप्रदेश और गान्धार की कला शैलियों का लगभग आधो–आध सम्मिश्रण माना गया है।

5. कुछ सासानी व विदेशी प्रभाव दर्शाती मूर्तियाँ, सम्भवतः हूणों की प्रतिकृतियां।

गुप्तोत्तर काल

श्रीमती देवांगना देसाई ने यह प्रतिपादित किया है कि भारत में मृण्मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ विकास शहरी

सभ्यता के उत्कर्ष के कालों व क्षेत्रों में हुआ था और गुप्त युग के बाद शहरी सभ्यता के क्षीण होने के बाद खुले बाज़ार के ज़रिये शहरी भद्रलोक के लिये मृण्मूर्ति निर्माण में कमी आई व मृण्मूर्तिकार मन्दिरों इत्यादि के स्थपतियों व ग्रामीण भूमिपतियों के लिये उनके चाहे अनुसार फलक व मूर्तियाँ बनाने लगे।

अस्तु, गुप्तकाल के बाद मृण्मूर्तियों के कलात्मक स्तर में गिरावट आई व उनका उत्पादन भी केवल कुछ क्षेत्रों तक सीमित हो गया। पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) में पहाड़पुर के स्तूप में मृत्तिका के फलकों का बहुत बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ और ऐसे समय लगभग 800 फलक सुरक्षित किये जा सके हैं। एक दूसरा बड़ा केन्द्र कश्मीर था जहां अखनूर और उश्कर से लगभग आठवीं शती की सुन्दर मृण्मूर्तियां मिली हैं जो गुप्तकला से प्रभावित तत्कालीन गांधार कला के नजदीक ठहरती हैं। इसके विपरीत, श्रीनगर के पास हरवन से प्राप्त टाईल्स पर मध्य एशिया की कला की छाप है।

बंगाल के बाद ईंटों के मन्दिर

16वीं शताब्दी के बाद, वैष्णव भक्ति आंदोलन के प्रभाव के अन्तर्गत, बंगाल में ईंटों के मन्दिरों और मृण्मूर्तियों के द्वारा उनके अलंकरण की एक अनूठी क्षेत्रीय शैली विकसित हुई जिस पर वहां की पारम्परिक ग्रामीण कला का गहरा प्रभाव था। वहां के गांवों में बसने वाली बांस इत्यादि की ढलवां छतों और झूलते किनारों वाली झोपड़ियों की तर्ज पर ''एक बंगला'' ''जोड़ बंगला'' ''चार चाल'' ''अठचाल'' इत्यादि भवनों का निर्माण हुआ जिनकी दीवारों पर धार्मिक आख्यानों और लोकजीवन के हर पहलू को दर्शाने वाले फलकों और खचित ईंटों से सजावट की गई हालांकि इस सजावट में सजीवता का अभाव भी दीख पड़ता है। विष्णुपुर इत्यादि स्थानों पर ये मंदिर अब भी देखे जा सकते हैं।

राजस्थान की मृण्मूर्तियां

रैढ़ और नगर से प्राप्त शुंग–कुषाण–कालीन नमूनों और भरतपुर म्यूज़ियम के संग्रह की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। नोह से प्राप्त कुछ और नमूने जयपुर में राज्य पुरातत्व विभाग के कार्यालय में हैं। सांभर के पास नलियासार व चित्तौड़ के पास नगरी से गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां मिली हैं जिनमें सुराहियों की टोंटियां व हैन्डल और नाटकों के पात्रों के मुखौटों जैसे अंकन महत्वपूर्ण हैं जो अजमेर और जयपुर–आमेर के संग्रहालयों में संगृहित हैं। बीकानेर के राजकीय म्यूज़ियम के दुर्लभ संग्रह का अपना अलग महत्व है और उसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

बीकानेर संग्रहालय की मृण्मूर्तियां

यशस्वी इटैलियन अन्वेषक और भाषा–विज्ञानी टैसिटरी ने 1916–1918 के दौरान सूरतगढ़ (रंगमहल, बडोपल) व हनुमानगढ़ (मुन्डा, भद्रकाली, पीर सुल्तान की थेड़ी, कालीबंगन) के क्षेत्रों से अनेक खचित ईंटें व फलक एकत्रित किये जो अब बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। टेसिटरी ने उनका मूलस्थान बौद्ध स्तूपों को माना था लेकिन उनमें बौद्ध सामग्री कम हैं व वे शायद किसी समय ईंटों के शैव व वैष्णव मंदिरों पर शोभायमान रहे हों।

टेसिटरी ने इस सामग्री को गाधार कला की प्रशाखा व ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का माना था लेकिन उसके बाद से ज़्यादातर विद्वानों ने इस सामग्री का काल लगभग 300 से 400 ई० तक माना है।

गांधार कला के प्रभाव वाला प्रश्न ज़्यादा जटिल है। हर्मन गोयत्ज़ (''बीकानेर राज्य का स्थापत्य व कला'') ने इस कला को गांधार के बजाय मथुरा के ज़्यादा नज़दीक माना है लेकिन कुमारस्वामी, वासुदेव शरण, यू.पी. शाह प्रभृति विद्वानों ने, कुषाण और गुप्तकला

के लक्षणों के साथ–साथ, अनेकों गांधार कला के लक्षणों और उपादानों की उपस्थिति की बात की है। उदाहरणार्थ, गोवर्धनधारी कृष्ण का मूंछ युक्त अंकन, बलिष्ठ, सुगठित शरीर व विशिष्ठ खुली आंखें। इसी तरह गले में कसे हुए कण्ठे व तिकोने हार को कुषाण प्रभाव का द्योतक माना गया है। अजैकपाद के गले का स्कार्फ गुप्त कला का यज्ञोपवीत है।

निश्चय ही इस प्रकार के अमुक–अमुक कला के लक्षण इस निराले व मूल्यवान संग्रह में अवश्य ही ढूंढे और गिनाये जा सकते हैं। लेकिन मुझे सबसे महत्वपूर्ण और सर्वोपरि बात यह लगती है कि इन मूर्तियों का मूल स्वर और वातावरण स्वयंभू और निराले हैं और इन्हें किसी भी प्रमुख शैलीगत सांचे में फिट कर देना न सम्भव है न उचित। ज़ाहिर है, इस संग्रह में पर्याप्त विविधता भी हैः पीर सुल्तान की थेड़ी से प्राप्त सिर विहीन ''अप्सरा'' लगभग पूरी तरह गांधार कला की लगती है जबकि मुण्डा से प्राप्त नारी सिर लगभग पूरी तरह गुप्त कला से संबंधित है, लेकिन संग्रह की अधिकांश मूर्तियां तथा गोवर्धनधारी, दानलीला, शिव–पार्वती, एकमुखी शिवलिंग, अजैकपाद और स्त्री–पुरूषों के उर्ध्वांगों को दर्शाते फलक, मूलतः एक स्वस्थ, ठेठ, लोक के सम्पर्क से स्पंदित, अकृत्रिम, खुली आंख और बेझिझक दृष्टि वाली ऐसी कला–भंगिमा बनाती है जो सर्वथा निजी, स्थानीय व शैली–निरपेक्ष है। कम से कम मेरी दृष्टि में और कोई मूर्ति–वर्ग ऐसा नहीं है जो इन मूर्तियों जैसा माना जा सके। अतः शायद यही कहना उचित होगा कि, कुल मिलाकर, ये मूर्तियां कुषाण–गुप्त संक्रमण काल की एक विशिष्ट स्थानीय शैली बनाती हैं जो अपने समय के कला आंदोलनों से कुछ–कुछ प्रभाव ग्रहण करते हुए भी, कुल मिलाकर, स्वच्छंद और स्वयंभू हैं।

उपसंहार

मृण्मूर्तियों का निर्माण अब भी हो रहा है। पूजा के लिए देवी–देवताओं की मूर्तियाँ बड़े पैमाने पर बनती हैं और गुड़ियायें भी जिनमें अक्सर मृण्मूर्ति–निर्माण की बहुत पुरानी परम्पराएं अब भी जीवित मिलती हैं। श्री काला ने लक्षित किया है कि बंगाल में यमपुकुर व्रत के दिन मिट्टी के पोखर आज भी पूजे जाते हैं। गोलपड़ा, मोलेला, मैमन–सिंह व नवद्वीप जैसे स्थान आज भी मृण्मूर्तियों के निर्माण के बड़े केन्द्र हैं। राजस्थान में भाभादेव को मिट्टी के घोड़े चढ़ाये जाते हैं जबकि तमिलनाडु में ग्रामदेवता अय्यनार (मोहिनी रूपी विष्णु और शिव की संतान) को आज भी मिट्टी के बड़े–बड़े 15 फीट तक ऊंचे घोड़े, कुदराई, अर्पित किये जाते हैं। पिछले दिनों आधुनिक उच्च वर्ग के जीवन में मृण्मूर्तिकला एक नए फ़ैशन के रूप में सम्मिलित हुई है और यह इस पुरातन और सशक्त विद्या के लिए एक शुभ संकेत है।

लेख में उद्धृत ग्रंथादिः

1. ''भारतीय कला'', वासुदेव शरण अग्रवाल, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1977.

2. ''इंडियन टैराकोटाज़'' स्टैला क्रैमरिश, ''जर्नल ऑफ इंडियन सोसायटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट'', कोलकाता, जिल्द 7, 1939. ।

3. ''भारतीय मृत्तिका कला'' सतीश चन्द्र काला, प्रतीक प्रकाशन, इलाहाबाद 1972 तथा डा० काला की ही दो अन्य पुस्तकें ''टेराकोटाज़ फ़िगराइन्स फ्रॉम कौशाम्बी'' (म्यूनिसिपल म्यूज़ियम, इलाहाबाद)।

4. ''ए सर्वे ऑफ इंडियन स्कल्पचर'', एस.के. सरस्वती, फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कोलकाता, 1957 ।

5. ''टेराकोटाज़ एण्ड अरबन कल्चर ऑफ एन्शियेंट इंडिया'', देवांगना देसाई, नेशनल म्यूज़ियम बुलेटिन, नई दिल्ली, अंक 4–5–6 (संयुक्तांक), 1985 ।

6. ''द आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट'', हर्मन गोयत्ज़, ब्रूनो कैसिरर, ऑक्सफोर्ड, 1950 ।

– **विजय वर्मा,** आई.ए.एस. (सेवा निवृत्त)
अनहद 101/47 मीरा मार्ग, मान सरोवर, जयपुर
राजस्थान – 302020, फोन – 0091–141–2781275

संजीव कुमार सिंह

चीन में बौद्ध धर्म व कला

विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक हेलमुथ वॉन ग्लासेनप्प ने विश्व के पांच महान् धर्मों में बौद्ध धर्म को एक प्रसिद्ध धर्म माना है। इन पांच धर्मों – हिन्दुत्व, बौद्ध, चीनी विश्ववाद, ईसाई और इस्लाम ने मानवीय संवेदनाओं को अंतः तक प्रभावित किया है और सोच व जीवनचर्या को एक नया आयाम दिया। इन पांच धर्मो को सामान्यतः– दो वर्गों में विभक्त किया जाता है, यथा–एक तो वह, जो हिन्दुकुश के पूर्व में पल्लवित – पुष्पित हुआ तथा दूसरा जो हिन्दुकुश के पश्चिम में विकसित हुआ। पहले वर्ग को सनातन माना गया क्योंक इसमें निरन्तरता है तथा दूसरा ऐतिहासिक प्रभाव व नैसर्गिक रहस्योद्घाटन के सिद्धान्त पर आधारित है। बौद्ध धर्म दोनों ही दर्शनिक तत्वों का समागम है। यह तो विदित है कि गौतम बुद्ध ने छठी–पांचवीं शती ई.पू. में इस धर्म का प्रवर्तन किया जो कालान्तर में न केवल अपने मूल स्थान तक अक्षुण्ण रहा बल्कि विश्व के व्यापक भूभाग पर फैला और प्राणिमात्र को प्रभावित करता रहा।

यह एक ऐसा धर्म है जिसके साथ विशिष्ट कला का संवर्द्धन व विकास हुआ जिसे कला इतिहासकार 'बौद्ध कला' के रूप में अभिहित करते हैं। यूं तो बुद्ध के जीवनकाल में ही सम्यक् कला का आरंभ हो चुका था जो परवर्ती काल में अपने अलग कथ्य, प्रकटीकरण और भाव के कारण बौद्ध कला के नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के साथ ये कलाएं भी दिग–दिगन्त तक फैलीं। कहते हैं कि बौद्ध धर्म तथा कला का प्रचार–प्रसार मौर्य काल में देशी सीमाओं को लांघ गया। मौर्यवंशीय शासक महान् अशोक ने अपने पुत्र, पुत्रियों, सामन्तों तथा भिक्षुओं को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विदेश भेजा जो निर्बाध गति से आठवीं–दसवीं शती ई० तक चलता रहा। बौद्ध धर्म के तीनों सम्प्रदायों यथा – हीनयान, महायान व तंत्रवाद का प्रभाव व प्रसार युगों–युगों तक होता रहा। और यही कारण है कि बौद्ध धर्म चीन में अपने प्रभाव छोड़ने में सफल रहा। जबकि उस समय चीन में भी एक नए धर्म कन्फ्यूशियसवाद का प्रभाव बढ़ा था। साथ ही, दाओवाद ने भी चीन में अपना प्रभाव छोड़ा हुआ था। किन्तु बौद्ध धर्म ने वहां के समाज में एक विशिष्ट स्थान बनाया। और, इसी कारण बौद्ध कला भी

केन्द्रीय बिनयांग गुफा, बेइवेइ में बोधिसत्व (पुसा) की अन्य देव के साथ प्रतिमा, छठी सदी का पूर्वार्ध।

स्थानीय भावों के साथ सर्वमान्य हुई। चीन में बौद्ध धर्म व कलाएं कैसे पहुंचीं इसका मानक स्रोत तो ज्ञात नहीं है किन्तु पुरावशेषीय परीक्षण से माना जा सकता है कि यह आज के अफगानिस्तान होते हुए मध्य एशिया पहुंची। जहां से यह चीन में प्रवेश कर सकी जिसकी तिथि तीसरी शती ई.पू. मानी गई है। क्योंकि बौद्ध पुरास्थल व पुरावशेष, कंधार, तकलामकान मरुभूमि एवं मध्य एशियाई क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से मिलते हैं जिसे आज 'रेशम पथ' (सिल्क रूट) के रूप में जाना जाता है।

गुयांग गुफा, बेइवेइ के दक्षिणी दीवार व छत का विहंगम दृश्य, छठी सदी का प्रथम चरण।

ह्वेनत्सांग की प्रसिद्ध कृति 'हीयोजी' (पश्चिमी विश्व का वृत्तांत) से ज्ञात होता है कि खोतान में महान् मौर्य शासक अशोक ने अपना प्रभाव स्थापित किया जिसे कुषाणों एवं हुणों ने अक्षुण्ण बनाए रखा। कहते हैं कि चीन की उत्तरी सीमा अक्सर हवीनगनू (हूण) से आक्रान्त रहती थी और उन्हीं से बचने के लिए चीन की महान् दीवार बनवाई गई थी। पुरातात्विक स्रोतों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पश्चिमी हान के बादशाह वू ने 138 ई.पू. में अपने दूत हांगकिन को विभिन्न क्षेत्रों में भेजा। हांगकिन ने बैक्ट्रिया और फरगना की यात्रा की। 126 ई.पू. में उन्होंने अपनी रपट बादशाह वू के समक्ष पेश की जिसमें रेशम पथ का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमे कहा गया था कि भारतीय व्यवसायी और व्यापारी अफगानिस्तान और मध्य एशिया होते हुए चीन में प्रवेश करते हैं जो अपने साथ एक तार्किक और शांतिप्रिय धर्म को भी प्रचारित करते हैं।

फिर भी, अब आधिकारिक रूप से कहा जाने लगा है कि पहली शती ई. तक बौद्ध धर्म व कला को चीन में एक समुचित स्थान प्राप्त हो गया था। सर्वप्रथम हान साम्राज्य (205 ई.पू. से 220 ई.) ने इस नए धर्म को चीन में प्रश्रय दिया। भिक्षुओं और अन्य स्थानीय अनुवादकों ने अद्भुत काम किया जिससे बौद्ध धर्म चीन में सहज व लोकप्रिय हुआ। पुरातात्विक साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि पूर्वी हान वंश (25–220 ई.) के शासन–काल में चीन की धरती पर विदेशियों का वास शुरु हो गया था। इन विदेशियों के चीन में बस जाने के कारण बौद्ध धर्म को भी उसी सम्मान से देखा जाने लगा जैसा कि वहां के स्थानीय दो धर्म दाओवाद और कन्फ्यूशियसवाद। बौद्ध धर्म को फोजिआओ, दाओवाद को दाओजियाओ तथा कन्फ्यूशियसवाद को रुजियाओ कहा जाता था और इन तीनों के सम्मिश्रण को संजीयाओ यानी तीन शिक्षाएं कहा जाता था। कतिपय पश्चिमी विद्वानों ने फो शब्द को विवादास्पद बनाने का प्रयास किया है। फो शब्द का अनुवाद विदेशी के रूप में किया गया है। जबकि फो शब्द भगवान बुद्ध के लिए प्रयुक्त है। आज भी चीन में बुद्ध के लिए फो शब्द ही प्रयुक्त है। प्रोफेसर ई० जूरचर जैसे विद्वानों का मानना है कि बौद्ध धर्म चीन में बहुत धीमी रफ्तार से फैला किन्तु एक समय ऐसा आया जब चीन जैसे विशाल देश में भी बौद्ध धर्म व कला ने बड़े ही प्रभावी ढंग से अपना स्थान बनाया। हालांकि शुरुआती दौर में चीनी लोग बौद्ध दर्शन को समझने में

CMYK # 24

असहज महसूस कर रहे थे किन्तु जैसे ही उन्होंने बौद्ध अवधारणाओं को समझा उन्होंने इसे स्थानीय बोध के साथ हृदय में समाहित कर लिया। यही कारण है कि बौद्ध धर्म सभी वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय हुआ जिसके कारण स्थानीय लोगों के लिए यह ग्राह्य हो गया। हाउहानजी तथा हाउहानशु नामक ग्रंथ परवर्ती हान काल में लिखी गई एक अद्भुत रोचक कथा का वर्णन करता है। कहते हैं बादशाह मिंग जिनका राज्यकाल 58 से 76 ई0 तक था, ने एक रात स्वप्न में एक स्वर्ण पुरुष को देखा। सुबह होने पर बादशाह मिंग ने अपने सलाहकारों से इसका कारण पूछा। मिंग के एक मंत्री ने खुलासा किया कि भारत में एक महात्मा हुआ जिसका वर्ण स्वर्णिम था और उन्हें बुद्ध के रूप में जाना जाता है। और उनका स्वप्न में आना बादशाह के लिए निश्चित ही खुशी की बात है और यह समृद्धि और शांति आने का शुभ संकेत है। मंत्री की सलाह मान बादशाह मिंग ने अपने दूतों को पश्चिम की ओर भेजा और निर्देश दिया कि बुद्ध के विषय में विशेष जानकारी लेकर आएं। बादशाह के आदेश का पालन करते हुए दूतों ने मध्य एशियाई प्रदेशों सहित भारत का भ्रमण किया और जब वे चीन लौटे तो उनके साथ दो भारतीय बौद्ध भिक्षु क्रमशः धर्मरत्न एवं कश्यप मतंग थे। बादशाह मिंग ने उनके सान्निध्य में 'श्वेत अश्वों का मंदिर' का निर्माण करवाया जिसे आज चीन की धरती पर प्रथम बौद्ध स्थापत्य का नमूना माना जाता है और शिशियेर झांग जींग का प्रथम बौद्ध साहित्य माना जाता है। इसका विशद वर्णन विद्वान् सुकामातो ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ अर्ली चाइनीज बुद्धिज्म' में किया है। चीन के विद्वान मानते हैं कि बादशाह मिंग के स्वप्न से पहले ही बौद्ध धर्म चीन में लोकप्रिय हो गया था। इसका वर्णन प्राचीन ग्रंथ वेलूऽई (वेई का संक्षिप्त इतिहास) में है जिसकी पुष्टि दूसरी शती ई०पू० के अन्य स्रोत से भी होती है। राजकुमार इंग (65 ई०) की जीवन–गाथा या आत्मकथा से पता लगता है कि राजकुमार इंग ने पूर्वी चीन के प्रसिद्ध व्यापारिक क्षेत्र पेंगचेंग में अपनी गद्दी स्थापित की थी जहां दाओवाद विशेष रूप से पूजनीय था। और वहां बौद्धवाद को भी दाओवाद का विदेशी संस्करण माना गया। एक अन्य प्राचीन ग्रंथ लिहुओ लुन से भी ऐसा ही पता चलता है।

इतना तो तय है कि हान काल तक बौद्धवाद, चीन में प्रसिद्ध व प्रचलित हो गया था। चीन के पूर्व में पेंगचेंग और उत्तरी मध्य चीन में लुओयांग बौद्धवाद के प्रसिद्ध केन्द्र थे। लुओयांग तो पूर्वी झाऊ राजवंश की राजधानी ही थी, उस पर पूर्वी हान एवं वेई, पश्चिमी जीन, और उत्तरी वेई राजवंशियों ने भी राज किया। और यह भी सच है कि इन क्षेत्रों में बौद्धवाद पहली शती ई0 तक स्थापित हो चुका था और अब पल्लवित व पुष्पित हो रहा था।

पेंगचेंग ही पहला ऐसा क्षेत्र था जहां बौद्ध कृतियों का चीनी भाषा व लिपि में प्रथम अनुवाद किया गया। प्रथम अनूदित कृति का नाम 'अन शिगाओ' था। अनुवाद संस्कृत एवं अन्य मध्य एशियाई भाषाओं का चीनी में हुआ। लेकिन लुओयांग भी एक अन्य बौद्ध केन्द्र के रूप में उभरा जहां के अनुवादों को लोकक्षेम माना गया। शिगाओ में मूलतः हीनयान दर्शन व आलेख का अनुवाद हुआ जबकि लोकक्षेम में महायान दर्शन का अनुवाद हुआ। शुरुआती दौर में यव, शक, पार्थियन, भारतीयों एवं सोगडियनों ने अनुवाद की कमान संभाली जो साधारणतः चीनी लोगों के सहयोग से किया जाता था। अतः यह प्रारंभ में द्विभाषी रूप में वर्णित है। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि यहीं से बौद्ध धर्म कोरिया व जापान पहुंचा।

प्रारंभ में केवल विदेशियों को ही बौद्ध पूजास्थल बनाने व भिक्षु होने का अधिकार चीन में था क्योंकि बौद्धवाद में भिक्षुओं को अकिंचन व समाज से दूर रहना होता था। किन्तु जैसे ही स्थानीय लोगों ने बौद्ध शिक्षा को समझा कि बौद्ध धर्म अहिंसा में विश्वास रखता है और सभी लोगों से समान व्यवहार, प्रेम, स्नेह व श्रद्धा की अपेक्षा रखता है तो हान काल में अनेक चीनी, भिक्षु के रूप में दीक्षित हुए। दाओवाद चीन का स्थानीय धर्म था और बौद्धवाद को उसका विदेशी संस्करण माना जाता था, और उनकी शिक्षाएं प्रायः आपस में मिलती–जुलती थीं। दोनों ही में बाद में एकाग्रता, ध्यान, प्राणायाम, आहार की शुचिता पर बल दिया जाने लगा तो बौद्धवाद को फैलने का अवसर चीन में मिला।

यूं अनुवाद काल के प्रारंभिक दौर में ही दाओवाद व बौद्धवाद में नजदीकियां आ गई थीं किन्तु मूर्त कलात्मक प्रतीक भी एक–दूसरे को करीब लाने में सहायक हुए। वस्तुतः प्रारंभिक मूर्तियों को लाओजी का अवतार माना गया है जो कि दाओवाद के प्रमुख देवता थे। जबकि बौद्ध भिक्षुओं ने लाओजी को कश्यप का प्रतिरूप माना। कश्यप भगवान बुद्ध के योग्य शिष्यों में से थे जिन्होंने चीन में दाओ दे जिंग की रचना की। सत्य तो यह है कि बौद्धवाद ने चीन में अनेक उतार–चढ़ाव देखे। इसका विरोध भी हुआ और इसे शिरोधार्य भी किया गया। 845 ई० में बादशाह वूजोंग ने एक सर्वेक्षण करवाया था जिससे पता चलता है कि वहां लगभग 2,60,000 भिक्षु व भिक्षुणियां, 4,600 बौद्ध मंदिर और 40,000 अन्य बौद्ध स्थल थे। बाद में उसने इन्हें ध्वस्त करने का आदेश दिया किन्तु एक सहूलियत भी दी कि राज्यों में केवल चार बौद्ध मंदिर ही रहेंगे जहां तीस से ज्यादा भिक्षु नहीं रह सकेंगे। किन्तु उसके उत्तराधिकारी हुवाजजोंग ने सत्ता हासिल करते ही पूर्व आदेश को निरस्त कर दिया और शिलालेख खुदवाकर यह ऐलान किया कि बौद्ध अपने क्रियाकलाप बढ़ा सकते हैं। हालांकि इस निर्णय का विरोध भी हुआ। उपद्रव में अनेक बौद्ध साहित्य और पांडुलिपियों को विनष्ट कर दिया गया। फिर भी बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अपने ग्रंथों व धर्म को चीन में अक्षुण्ण बनाए रखा।

“बौद्धवाद ने चीन में अनेक उतार–चढ़ाव देखे। इसका विरोध भी हुआ और इसे शिरोधार्य भी किया गया। 845 ई. में बादशाह वूजोंग ने एक सर्वेक्षण करवाया था जिससे पता चलता है कि वहां लगभग 2,60,000 भिक्षु व भिक्षुणियां, 4,600 बौद्ध मंदिर और 40,000 अन्य बौद्ध स्थल थे।”

हान काल के अंत तक बौद्धवाद अपना एक स्वतंत्र रूप ले चुका था। तांग काल में बौद्धवाद कनफ्यूशियसवाद के भी करीब आया किन्तु मौलिक भिन्नता बनी रही। कतिपय इतिहासकारों का मानना है कि हान काल में ही प्रथम बौद्ध कला का चीन में आविर्भाव हुआ जिसमें भारतीय, गांधार व फारसी प्रभाव दिखता है। पहली बौद्ध कृति 193 ई0 में बनी जिसमें बौद्ध चिह्नों को हान राजवंशीय चिह्नों के साथ बनाया गया। हालांकि अभी भी प्राचीन पुरावशेष और कलात्मक स्वरूप यदा–कदा मिल जाते हैं परन्तु प्रारंभिक कलात्मक मूर्तियों का अभाव है। फिर भी, यह खोज अंतिम नहीं है।

वस्तुतः बौद्ध कला का स्वरूप आज भी चीन के विभिन्न भागों तथा गुफाओं में संरक्षित है और इनमें से कई विश्व धरोहर की श्रेणी में हैं। इन गुफाओं को चट्टानों की खुदाई कर बनाया गया था। इन गुफाओं की ज्यादा संख्या उत्तरी चीन में ही मिलती है। मगाओ, यूनगंग, दातोंग, लोंगमेन, आदि प्रमुख बौद्ध गुफाएं हैं। गुफाएं खुदवाने की भी यहां अनेक रोचक कहानियां सुनने को मिलती हैं जो अब ग्रंथ रूप में भी उपलब्ध हैं। सूई व वेई, राजवंशियों ने गुफाओं के साथ अनेक बौद्ध मंदिरों का भी निर्माण करवाया। वाईक्यू – यह एक ऐसा पर्वत है जहां लगभग 2,300 गुफाओं का निर्माण करवाया गया। लगभग 1,10,000 प्रतिमाओं का भी उत्खनन किया गया कुछ तो नाखून के बराबर हैं तो कतिपय मूर्तियां 18 मीटर तक ऊंची

हैं। पगोडा और अलंकृत स्तंभ यहां की विशेषताएं हैं। साथ ही, केवल इस गुफा श्रेणी से ही ज्ञात 28,000 पुराभिलेखों की भी जानकारी मिली है। इन बौद्ध केन्द्रों को राजा–रानियों का प्रश्रय तो मिला ही था जनसाधारण ने भी इसके संरक्षण व परिवर्धन में व्यापक सहयोग दिया।

चीन में न केवल गुफाओं का निर्माण हुआ अपितु अनेकानेक बौद्ध प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ। इन प्रतिमाओं का निर्माण प्रतिमा–विज्ञान के मूल अनुदेशों से अनुप्राणित था। प्रतिमाओं के निर्माण में यथासंभव मूल भावनाओं को ही उत्खचित किया गया किन्तु स्थानीय भावों को भी हृदय से स्वीकार किया गया। इन मूर्तियों के निर्माण में पत्थर तो मूल वस्तु था ही किन्तु धातु की मूर्तियां भी बहुलता में प्राप्त हुई हैं। मृण्मूर्तियां भी वहां की विशेषता हैं। वस्तुतः प्रारंभिक प्रतिमाएं दाओवादी

'फो' (बुद्ध प्रतिमा) चूना पत्थर, उत्तरी वेई राजवंश छठी सदी का प्रथम चरण

प्रतिमाओं के करीब थीं किन्तु बौद्ध प्रभाव के कारण रुढ़िवादी प्रतीक ने भी अपनी जड़ें जमाईं। इन प्रतिमाओं में प्रसिद्ध मूर्तियां 'फो' (बुद्ध), 'हितादवो' (सिद्धार्थ), 'मिलेफो' (मैत्रेय), 'मिलेपुसा' (बोधिसत्त्व मैत्रेय), 'पुसा' (बोधिसत्त्व), 'फेइतियान' (अप्सरा), 'शेनहूवा' (सिंह), 'दाशीझीपुसा' (बोधिसत्त्व महास्थानप्राप्त), 'शिजामौनी' (शाक्यमुनि), 'दीझानपुसा' (बोधिसत्त्व क्षितिगर्भ), 'लिशी' (द्वारपाल), 'हीयेगुई' (लोकपाल), 'शिझी' (सिंह), आदि प्रमुख हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माण तो बौद्ध शिल्पशास्त्र के अनुरूप ही किया गया है किन्तु स्थानीय तत्त्वों के मिश्रण से भाव व अभिव्यक्ति में अन्य से भिन्नता नजर आती है। फिर भी, इसे पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होती है। फो (बुद्ध) को प्रायः बैठे हुए, खड़े हुए दिखाया गया है। पद्मासन और विभिन्न मुद्राओं में हाथ को तराशा गया है जिसमें अभयमुद्रा (शिवूवेयीन), वरद मुद्रा (शियानेयीन) प्रमुख हैं। फो (बुद्ध) प्रतिमाओं में महापुरुष के सभी लक्षणों को दर्शाया गया है। फो (बुद्ध) मूर्तियों के बाद बोधिसत्त्व व मैत्रेय प्रतिमाएं बड़ी संख्या में मिलती हैं। भावमग्न बोधिसत्त्व तो विशेष रूप से बनाए गए हैं। इसके अतिरिक्त जानवरों, राजसी व सामन्ती लोगों की मूर्तियां बनाई गई हैं।

पहली सदी से जो परम्परा चली वह अभी तक निरन्तर चली आ रही है। हालांकि इन कालों में बौद्धवाद और बौद्ध कला ने अनेक उतार–चढ़ाव देखे। असहिष्णुओं ने इसे नष्ट करने की कोशिश की जबकि श्रद्धालुओं ने इसे सिरमौर बनाया। और यह संभव हो पाया था क्योंकि भगवान बुद्ध ने तो करुणा ही बांटी थी और मानवमात्र की मंगलकामना के लिए एक तार्किक मानवीय राह दिखलाई थी। अंत में हम कह सकते हैं कि चीन में आज साम्यवादी सत्ता होने के बाद भी बौद्ध धर्म को विशेष स्थान प्राप्त है। और यह, सनातनीय भारतीय दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का प्रवाहक है।

– संजीव कुमार सिंह
उपसंग्रहाध्यक्ष (प्रदर्शनी), राष्ट्रीय संग्रहालय
जनपथ, नई दिल्ली–110011
ई मेलः kumarsinghsanjib@yahoo.co.in

डॉ० श्याम सिंह शशि

यायावर संस्कृति : कल और आज

कभी समय था जब मानव उन्मुक्त जीवन जीता था। उसे न स्टेटस की परवाह थी और न ही अनावश्यक धनार्जन की। वह वंशी की धुन में अपने पशुओं को हेरता और गोधूलि में उन्हें लेकर अपने डेरों पर लौट आता । जो पशुपालक यायावर अथवा घुमक्कड़ जीवन अपना लेते, वे रात खुले आसमान अथवा किसी गुफा में व्यतीत करते। अगले दिन वे अपने पशु चराने के लिए नए ठिकाने की ओर चल पड़ते। उदरपूर्ति के लिए यायावरी जीवन की यह शुरुआत थी जो कालांतर में व्यापार में बदल गई। पशुपालक घोड़े, खच्चर या गदहों पर लोगों की आवश्यकता के अनुसार खाद्यान्न अथवा अन्य वस्तुएं लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने लगा। भारत में वह बंजारा, बंजारी अथवा लम्बाड़ी आदि समुदाय के रूप में पुकारा जाने लगा।

यायावरों का एक और समुदाय बना जो नट, बाजीगर, जोगी अथवा भिक्षुक के रूप में अपना जीवन–यापन करने लगा। इसी संदर्भ में संन्यासी, श्रमण तथा बैरागी आदि शब्द हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। यह धार्मिक यायावरी थी जो पहले तीर्थ–संस्कृति के रूप में उभरी। धार्मिक–स्थलों की यात्रा धर्म से प्रभावित थी, अतः नदियों के किनारे

रोमा जिप्सी गायक

रोमा कलाकार श्रीमती कातारज़ीना पोलक अपनी पेंटिंग के साथ भारतीय वेशभूषा में

बसे बहुत से नगर तीर्थ–स्थल बन गए, जहां दूर–दूर से श्रद्धालु–जन गंगा तथा अन्य नदियों में स्नान करने आते एवं मंदिरों में दर्शन करके अपने घर लौट जाते। पुण्यलाभ की कामना पूरी करते। इसी धर्म–परायण प्रवृत्ति ने वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को जन्म दिया। श्रमण संस्कृति का उदय हुआ तथा भगवान महावीर और बुद्ध का यात्रा–पथ प्रशस्त हुआ। श्रीराम को भी वनवास–काल में यायावरी अपनानी पड़ी थी। दुनिया–भर के मुसलमान हज के लिए मक्का–मदीना तक का सफर करना अपनी खुशकिस्मती समझते हैं। धार्मिक स्थल, विश्वासों के अनुसार समाजों को जोड़ते रहे हैं।

मैंने वर्षों पूर्व यायावर–संस्कृति पर शोध आरंभ किया था और मेरे शोध–स्थल थे – चम्बा के मनमोहक धौलाधार, भरमौर और उसके आसपास के गीत गाते गांव, गद्दियों और गुज्जरों के काफिले और फिर पंगवाल और किन्नरों के बीच। यहां की प्रकृति, सात्विकता और ऋजुता ने मेरे मानव–शास्त्र को नई दिशा देकर महानगरों की ओर भेजा। भारतीय आदिम जाति सेवक संघ, दिल्ली में मेरे अध्ययन पात्र यदा–कदा मिलते रहे। उनसे परिवर्तनों के संबंध में प्रश्न करता और फिर कुछ नया जोड़ता। यूरोप और अमेरिका में भी यायावरों के बीच रहा। ये यायावर रोमा जिप्सी सिगानों, मानुष आदि संज्ञाओं से जाने जाते हैं। मेरा स्पष्ट अभिमत है कि ये लोग एक हजार वर्ष पूर्व पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तर भारत से अपना घरबार छोड़कर वहां गए थे। पश्चिमोत्तर भारत में हिमाचल प्रदेश भी आता है जिस प्रकार गद्दियों के प्रवास के बारे में कहा जाता है – "उजड़या लाहौर, ते वस्या भरमौर"। उसी प्रकार इन लोगों के बारे में भी अवधारणा है कि इन रोमाओं के पूर्वज

लाहौर अथवा पंजाब से बड़ी संख्या में पश्चिम की ओर गए थे। हो सकता है गद्दियों का एक काफिला भेड़–बकरी चराता यूरोप की ओर चल पड़ा हो और फिर कहीं भटक गया हो। अपने देश नहीं लौट सका होगा। रोमा संस्कृति विश्व की सबसे विशाल यायावर संस्कृति है क्योंकि ये लोग रोमानिया, यूगोस्लाविया, हंगरी, जर्मनी, फ्रांस, स्विट्रज़रलैंड, डेनमार्क, फिनलैंड, इटली, ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका और रूस तथा अन्य देशों में घुमक्कड़ी करते मिल जायेंगे। सूर्य मंदिरों की खोज के चलते मुझे मैक्सिको में भी यायावर संस्कृति को देखने का अवसर मिला। वहां रोमा को गिटानो की संज्ञा दी जाती है। उनकी भाषा में आज भी हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के पचास प्रतिशत शब्द मिलते हैं और कुछ शब्द पहाड़ी भाषाओं, गद्दी और गूज़र बोलियों के भी हैं। मॉरीशस तथा सूरीनाम के प्रवासी भारतीय आज भी अपने घरों में हिन्दी, भोजपुरी तथा तमिल बोलते हैं। ये लोग पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु तथा अन्य प्रदेशों से वहां ले जाए गए थे।

भारत में आदिवासियों की संख्या तीन करोड़ से भी अधिक है। उनकी आय के स्रोत सहस्त्रों वर्षों से जंगल, पहाड़, नदियां तथा अन्य प्राकृतिक साधन रहे हैं, जिनके अनुसार उनके जीवन मूल्य, रहन–सहन, रीति–रिवाज तथा सामाजिक ढांचे का निर्माण होता है। उनके सोचने का ढंग तथा बाहरी दुनिया को समझने का दायरा भी परिवेश के अनुसार बनता जाता है। वास्तव में जनजातीय जीवन–पद्धति से अपरिचित लोग उन्हें एक अजीबोगरीब संस्कृति का मॉडल–भर समझे हुए हैं। वे उनके संगीत और नृत्य तक सीमित रहे हैं। उनकी वास्तविक समस्याओं की ओर किसी का ध्यान नहीं जा पाता। कौन जानता है, इन थिरकते पांवों में कितने कांटे चुभे हैं।

> **“वास्तव में जनजातीय जीवन-पद्धति से अपरिचित लोग उन्हें एक अजीबोगरीब संस्कृति का मॉडल-भर समझे हुए हैं। वे उनके संगीत और नृत्य तक सीमित रहे हैं। उनकी वास्तविक समस्याओं की ओर किसी का ध्यान नहीं जा पाता। कौन जानता है, इन थिरकते पांवों में कितने कांटे चुभे हैं।”**

वन्य क्षेत्रों में अधिकांश यायावर जनजातियां पशुपालक हैं, कृषि करती हैं अथवा उद्यानों में काम करती हैं, जबकि पूर्वोत्तर भारत में अनेक आदिवासी झूम की खेती करते हैं। यायावरों की खाद्य–संग्रहीता व्यवस्था में पर्याप्त परिश्रम की आवश्यकता होती है जंगली पदार्थ, जड़ें, फल तथा पत्ते इकट्ठे करना आसान काम नहीं है। ये लोग शिकार करते हैं और मछली पकड़कर भी जीवनयापन करते हैं। छोटा नागपुर के बिरहोर, उड़ीसा के ज्वांग, मध्यप्रदेश के कोरबा, ट्रावनकोर कोचीन के कादर तथा महाराष्ट्र के कतकारी आदिवासी लोग इस प्रकार के जीवनयापन की पद्धति अपनाये हुए हैं। कुछ लोग खानाबदोश हैं। ज्वांग जनजाति सांप तक खा जाती है। कोरबा कच्चा मांस खाने के शौकीन हैं। हो जनजाति के बच्चों को शुरू से ही यह सिखाया जाता है कि वे शिकार करके ही अपना हिस्सा प्राप्त करने का प्रयास करें। इस शिकार के पीछे कितनी जानें जाती हैं इसका अनुमान लगाना कठिन है। उत्तर–पश्चिम बिहार के हिमालय क्षेत्र में थारू जनजाति की महिलाएं आज भी स्वयं को पुरुषों से श्रेष्ठ समझती हैं तथा अपने पतियों के लिए जिस बर्तन में खाना परोसती हैं उसे ठोकर मारना राजपूती शान समझती हैं। थारू कभी थार के रेगिस्तान के निवासी थे तथा राजस्थान से यायावरी करते यहां पहुंच गए

हिमाचल की यायावर गद्दी महिला

थे। उनमें अधिकांश राजपूत थे।

हिमालय तथा विंध्याचल की अनेक जनजातियां पशुपालन द्वारा अपनी उदरपूर्ति करती हैं। हिमालय की घाटियां चरवाहे की वंशियों से गुंजरित हो उठती हैं तो लगता है, उनके कठिन जीवन में कोई मधुर रस घोल रहा है जो पर्वत की दूभर चढ़ाइयों को पार करने में सहायक बनता है। यहां के गद्दी, भोटिया, किन्नर तथा अन्य कई समाज भेड़–बकरियां पालते हैं और उनमें से अनेक लोग यायावरी–जीवन व्यतीत करते हैं। बहुतों को महीनों नहाने का अवसर नहीं मिलता। केवल प्रकृति का सान्निध्य ही स्वास्थ्य ठीक बनाए रखता है। अलबत्ता समस्याओं का कोई अंत तो है नहीं।

भोटिया यायावर ऊन तथा वस्त्रों का व्यापार करते हैं। चीनी आक्रमण से पूर्व उनकी स्थिति अच्छी थी, क्योंकि वहां से वे ऊन तथा अन्य वस्तुओं को भारत लाकर बेचते थे। यह जानकर आश्चर्य होता है कि नीलगिरि के टोडा लोग एकदम शाकाहारी हैं तथा गाय –भैंस पालकर अपनी गुजर–बसर करते हैं। बहुपति प्रथा के कारण इन लोगों की जनसंख्या घटती जा रही है। हिमालय का मुसलमान गुज्जर तो लगभग संपूर्ण यायावर समाज है। यहां यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये जनजातियां मुख्य रूप से पशुओं के सहारे ही अपनी उदरपूर्ति करती हैं। अतः चारागाहों के अभाव में उन्हें अपना घर–बार छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ता है। उनका तमाम परिवार भी साथ रहता है।

कश्मीर के पांगी प्रदेश में पंगवाल पशुपालन करते हैं, लेकिन आधे से अधिक साल वहां बर्फ जमी रहती है। अतः ऐसी दशा में कहां जाएं ये बेचारे। केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं – या तो अपना घरबार छोड़कर बहुत दूर कहीं अन्य प्रदेश में निकल जाएं अथवा रात–दिन एक करके इतना चारा एकत्र कर लें कि वह साल–भर पशुओं के लिए पर्याप्त रहे। एक अजीब विडम्बना है यहां के आदिवासी यायावर–जीवन की।

हिमालय के गद्दियों पर शोध हेतु उनके बीच रहने का मुझे अवसर मिला। अपने प्रवास में भी यायावर की भांति भ्रमण करते हुए जो कुछ देखा, उसका कुछ विवरण इस प्रकार है : गद्दी

अर्द्ध–यायावर, अर्द्ध–कृषक, तथा अर्द्ध–पशुपालक जनजाति है। ये लोग छः महीने प्रवास में रहते हैं और वे अपने पशुओं को चराने तथा आंशिक रोजगार पाने के लिए गांव छोड़कर निचली पहाड़ियों की ओर चले जाते हैं। यह पैंतीस वर्ष पुरानी स्थिति थी जो अब काफी बदल गई है।

गद्दी जनजाति में भी कई जातियां हैं, जो इस प्रकार हैं – गद्दी ब्राह्मण, गद्दी राजपूत, गद्दी सिपी और गद्दी रेहरा। आश्चर्य है कि देहरादून के जौनसार बावर क्षेत्र में भी ब्राह्मण जनजाति मिल जाती है। गद्दियों तथा गुज्जरों की भांति भारत में मेषपालक समाज पाया जाता है जो पाल, बघेल, धनगर, नीखर, कुरबा, कुरम्बा, रबारी, भारवाड़, यादव आदि नामों से पुकारा जाता है। मध्य प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में पाल समाज के लोग अपने नाम के साथ यादव लगाते हैं। कभी ये सभी एक ही वर्ग के लोग थे। 'अहीर, गड़रिया, गूजर, ग्वाला, इन चारों में 'हेला–मेला' कहावत आज भी पशुपालक समाजों में प्रचलित है। यायावर संस्कृति को जीता यह भोला–भाला समाज अनेक कठिनाइयों से जूझता है।

हिमालय के मुस्लिम गुज्जरों के परिपेक्ष्य में मैदानी क्षेत्रों के स्थायी निवासी गुर्जर समाज की चर्चा करना भी समीचीन होगा। अरबी लेखकों – आबूजैद तथा अलमसूदी ने जुर्ज (गुर्जर) गुर्जरों से अरब जाति के साथ हुई लड़ाइयों का वर्णन किया है। अरबों ने गुर्जरों के राष्ट्रकूटों की सहायता की थी। कन्नड़ कवि पम्प ने भी महिपाल महाराजा को गुर्जर कहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कन्नौज का प्रतिहार राजवंश गुर्जरों (गुजरों) का था। के.एम. मुंशी रायगढ़ के गुर्जर किसानों को भी गुर्जर जाति का न मानकर गुजरात से प्रवासित बताते हैं और मथनदेव गुर्जर को भी इसी प्रकार गुर्जर देश का होने से गुर्जर मानते हैं। स्वयं गुजरात के सम्पन्न किसान लेवा, खाडवा, और कुनबी आदि भी कहते हैं कि वे गुर्जर जाति के हैं और पंजाब से आये हैं। उनकी वंशावली पंजाबी गुजरों से मिलती है, जिसे कालचक्र ने इधर धकेल दिया। राजपूताना मालवा होकर वे 20 पीढ़ी पूर्व यहां आए थे।

इसी प्रकार खानदेश व निमाड़ के गूजर अपने को राजपूताना व मालवा का बताते है। प्रश्न उत्पन्न होता है – गुजरात के शस्य–श्यामल प्रदेश को छोड़कर गुजरात के किसानों का भारी संख्या में इधर आना कैसे संभव हुआ? इस पर अभी शोध की आवश्यकता है। इतिहासकारों का कहना है कि अनेक यायावर समाज प्राचीन सूर्य और चंद्र वंश के क्षत्रिय हैं। उल्लेखनीय है कि कुर्मी, शाक्य तथा अन्य समाजों के कुछ वर्ग कभी यायावर अवश्य रहे होंगे। मुस्लिम शासकों के समय अनेक गुज्जरों ने धर्म–परिवर्तन कर लिया तथा अधिकांश यायावर अथवा अर्द्ध–यायावर बन गए। हिन्दू गुज्जर पशुपालन तथा कृषि–कार्य अपनाने के कारण स्थायी रूप से गांवों में रहने लगे, किंतु मुसलमान गुज्जर पहाड़ों और जंगलों की ही खाक छानते रहे।

गुजरात का गुर्जर समाज हिमाचल प्रदेश की कन्दराओं तक कैसे पहुंचा तथा ये लोग गुजरात काठियावाड़ से जम्मू तथा कश्मीर और कालांतर में हिमाचल व उत्तर प्रदेश किन परिस्थिति में पहुंचे, और अधिक शोध का विषय है। उनमें से कुछ यमुना और गंगा के किनारे स्थायी रूप से बस गये और कुछ, वर्षों के अंतराल में दिल्ली की ओर आ गए। मुसलमान गूजरों में चन्देल, भट्टी, भैंसी, चोपड़ा, चौहान, चेची, आदि हिन्दू गोत्र आज भी समान रूप से मिलते हैं। किंतु क्या दो भाई कभी एक होकर अपने अतीत पर दृष्टिपात करेंगे? क्या एक ही घर में नमाज और हनुमान चालीसा एक साथ नहीं पढ़े जा सकते? यह प्रश्नचिन्ह इन समाज के कार्यकर्ताओं के लिए है।

– डॉ० श्याम सिंह शशि

बी–4/245, सफदरजंग एन्कलेव,

नई दिल्ली–110029

भारतीय लघु चित्रों में बिखरे होली के रंग

डा. दलजीत

पलाशों के दहकने, आमों के बहकने और पखेरुओं के चहकने का मौसम है होली। होली वह त्यौहार है जो न केवल रंगों को रंग देता है, बल्कि इसके छूने से ही हथेलियां महक उठती हैं। फागुनी बयारों, कजरारे अहसासों, गुदगुदी और छुअन का त्यौहार है–होली। कहते हैं कविता की शुरुआत करुणा से हुई, लेकिन होली की कब और कैसे हुई, यह किसी को नहीं पता। शायद आनंदातिरेक से, शायद सोने के पिघलने पर, यानी तब जब पहली बार सोना पिघल कर खेतों की पर्त बन गया होगा।

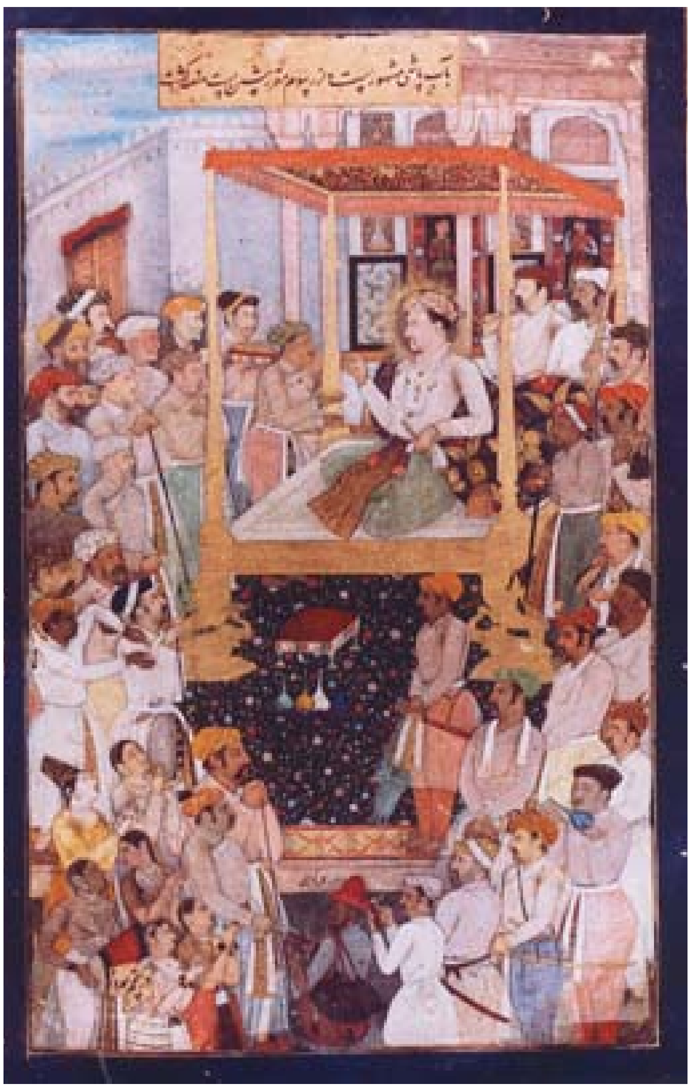

सौजन्य : रामपुर रज़ा लाइब्रेरी

जहाँगीर के तुजूक की एक तस्वीर, जिसमें जहाँगीर दरबार में होली खेलते हुए दिखाया गया है। सन् 1618 ई.

रसियों के लिए तो हर दिन होली है और हर रात दिवाली। जो राधामयी हैं, कहते हैं, होली कहां ? वह तो राधा थी जो श्याम–रंग हो ली! दरअसल, राधा के रंगों से ही शुरू हुई होली जिसकी झांई मात्र से श्याम हरित द्युति हो गए। यानी रंगों के अहसास का नाम है होली। रंग जिनका कोई आकार नहीं, मगर कोई आकार उनके बिना संभव नहीं। रंगों के ये निराकार भाव जब मन के गहरे अहसासों में उतर आएं और आकार देने लगें, तो समझ लीजिए कि आ गई होली।

होली के अर्थ सबके अपने हैं – जिनके लिए होली नए की शुरूआत है वह इसे नए वर्ष का प्रारंभ और जड़ता की समाप्ति मानते हैं। महाभारत में एक दिलचस्प कथा है। युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि 'होलिका उत्सव' कैसे आरंभ हुआ, श्रीकृष्ण ने बताया की ढोढ़ी नाम की राक्षसी रघु (राम के पूर्वज) के राज्य में ऐसी आई कि किसी वस्तु से मरती ही न थी। उसे भगवान शिव का

वरदान था। केवल खेलने वाले बच्चों से वह भय खाती थी। तभी गुरु वशिष्ठ ने विधान बतलाया कि बच्चे लकड़ी के छोटे–छोटे टुकड़े लेकर बाहर जाएं और सूखी घास के ढेर में आग लगाएं, तालियां बजाएं और अग्नि परिक्रमा करें, हँसें और गाएं – वह राक्षसी मर जाएगी। तब से होली का दहन शुरु हुआ। जड़ता के त्रास को बाल सुलभ मुक्त उल्लास और सामूहिक क्रीड़ा से दूर किया जा सकता है। यह भी माना जाता है कि पुराने साल को जला कर राख कर दें, क्योंकि होली के अगले दिन चैत्र मास का पहला दिन होता है, जो कि नव वर्ष के रूप में मनाया जाता है। पुराने सारे मन मुटाव और बैर मिटा कर अग्नि में दहन करना ही होली है।

पारंपरिक रूप से होली सत्य की असत्य पर और न्याय की अन्याय पर विजय के रूप में मनाई जाती है। जन–मानस में प्रचलित कथा विष्णु के नृसिंह अवतार की कहानी कहती है। विष्णु भक्त प्रह्लाद को तब उनके पिता हिरण्यकश्यपु ने अपनी बहन होलिका के साथ मिलकर जीवित दहन करने का प्रयास किया, जब प्रह्लाद तो बच गए, परंतु होलिका जल गई। बाद में हिरण्यकश्यपु के अंत के लिए स्वयं विष्णु नृसिंह के रूप में अवतरित हुए और भक्त प्रह्लाद को दिव्य दर्शन दिए।

एक अन्य कथा के अनुसार ऋषि भृगु अपनी अत्यंत सुंदर भार्या पुलोमा को सदा अग्निदेव की रक्षा में सौंप कर सुबह स्नान करने के लिए जाया करते थे। एक दिन असुरों ने अग्नि को अति स्वादिष्ट व्यंजनों की हवि दी और अग्नि सो गए। असुर ऋषि–पत्नी को ले गए। ऋषि ने लौटने पर अग्नि को श्राप दिया कि अब लोग स्वादिष्ट व्यंजनों की जगह व्यर्थ वस्तुओं की आहुति देंगे। अग्नि बुझने लगी। इस श्राप से देवताओं और मनुष्यों को चिंता

कृष्ण गोपियों के साथ होली खेलते हुए, दतिया लगभग 1770 ई०

होने लगी। तब भगवान विष्णु ने ऋषि को श्राप वापस लेने की प्रार्थना की। अब श्राप तो वापस नहीं हो सकता था, पर उसके प्रभाव को कम करने के लिए वर्ष में एक दिन तय कर दिया गया और वह दिन होलिका दहन का दिन माना गया। इस कथा से यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य को अपने पर्यावरण को साफ–सुथरा और स्वच्छ रखने के लिए व्यर्थ की चीजों को जला कर वातावरण को शुद्ध करना चाहिए। धरती के बढ़ते भार को कम करना चाहिए। न काट कर और न ही पेड़ों को जला कर, बल्कि व्यर्थ की वस्तुओं को जला कर नए बीज के लिए नई राह बनाना ही होली है।

उनके लिए जो भक्ति में डूबे हैं, होली कृष्ण के रूप में और राधा के रंग में आनन्द पाने का प्रयास है। राधा कृष्णमय हो या कृष्ण राधामय, दोनों ही जीवन के रंगमयी स्वरूप के प्रतीक हैं। गोपियां आराध्य श्रीकृष्ण को कहती हैं, 'लला फिर आइयो खेलन होरी।' कवि केशव 'रसिकप्रिया' में लिखते हैं–

'नंद नंदन खेलन हे बने गात बनी छबि चंदन के जल की।

वृषभाननुसुताहि विलोकत ही रुचि चित में विभ्रम की झलकी।

गिरि जात न जानत पाननि खात बिरी करि पंकज दे दल की।

विहंसी सब गोपसूता हरि लोचन मूंदी सुरोति दृग चल की।'

कवि कहते हैं कि कृष्ण राधा के रंग में रंग कर इतने हतप्रभ हो गए हैं कि उन्हें सुध ही नहीं रही कि वह गोपियों से घिरे हुए हैं और वह पान की जगह कमल की पंखुड़ियां खा रहे हैं। मेवाड़ के कलाकार ने शब्दों को अपने रंगों में उतारा है। गोपियों के चेहरों पर हंसी–ठिठोली इस कदर स्पष्ट है कि पूरा चित्र काव्य बन गया है। प्रकृति के संतुलित चित्रण और गहरे रंगों ने पूरे वातावरण को मोहकता प्रदान कर दी है।

इसी भाव को बुन्देली चितेरों ने भी साकार किया है। राधा ने कृष्ण को रंगों में सराबोर कर दिया है, पर कृष्ण राधा को टकटकी लगाकर ऐसे निहार रहे हैं जैसे राधा के अतिरिक्त विश्व में कुछ है ही नहीं। कहां गोपियां ढोलक पर थाप दे रही हैं और कहां पिचकारी भर रही हैं इसका अहसास न राधा को है और न ही कृष्ण को।

जीवन को आनंदमय रंगों से भरने के प्रयास में भारतीय चित्रकला के चितेरों ने प्रकृति से रंग चुरा कर अपनी कूँची से कागजों पर बिखेर दिया है। जो रूप उन्होंने इन चित्रों को दिया उसने इस रंग–पर्व को और अधिक रंगमय बना दिया है।

आमतौर पर चित्रकारों ने होली उत्सव को कई रूपों में चित्रित किया है। कहीं राधा और कृष्ण की होली है तो कहीं शिव–पार्वती के साथ भांग घोट रहे हैं। कहीं राजा अपने रनिवास में होली खेल रहा है तों कहीं राजा हाथी पर बैठ कर अपने नागरिकों का रंगों भरा अभिनंदन स्वीकार कर रहा है।

इन चित्रों में वातायनों और भवनों के झरोखों से झांकती युवतियों द्वारा पिचकारियों से राजा पर रंग बिखेरते दिखाया गया है। इन्हें इतना सुंदर चित्रित किया गया है कि रसिक जनों की आंखें इनके सौंदर्य को निहारती, रूप–माधुरी का पान करने को लालायित लगती हैं। डफ, मृदंग और मंजीरे बजाते पुरुषों का समूह, बैलों पर रंग का पानी लादे भिश्ती, गुलाल गोट फेंकते जन–साधारण और मस्ती तथा उल्लास से भरे दृश्य अंकित किए गए हैं। इन कलाकारों ने प्रत्येक विषय को इतना भावमय और कौतुहलपूर्ण बना दिया है कि सृजन की सबलता का आभास ही मन को नतमस्तक कर देता है। कल्पना की कोमलता एवं लय इन चितेरों की भारतीय चित्रकला की अनमोल धरोहर है।

बीकानेर के कलाकार ने इसी लय को जीवंत किया है राधा और कृष्ण की अठखेलियों से। कृष्ण के रंग से बचने के लिए गोपियां यमुना नदी में छिपने के प्रयास में

हैं – वहां भी कृष्ण पिचकारी लेकर पहुंच गए हैं। गोपिका के रोकने पर भी रुक नहीं रहे। होली के रंग को एक काल्पनिक गहरे पीले और हरे रंगों से सजा दिया गया है। नदी के साथ–साथ पेड़ों की कतारें प्रकृति के फाल्गुनी रंगों को उजागर करती हैं। जयपुर के कलाकार ने भी राधाकृष्ण की होली को रंगों के ढेर व पिचकारियों सहित दिखाया है। यहां पर कृष्ण को राधा के निवास पर रंग खेलते दिखाया गया है। जिसकी छत की मुंडेर पर बैठा मोर इस मोहक छविद्वय को निहार रहा है।

पहाड़ी कलाकार ने अपनी काल्पनिक उड़ान को हिमालय की तराई के वास्तविक सौंदर्य से जोड़ दिया है। पहाड़ी शैली में भी होली के चित्र कृष्ण प्रधान ही रहे। होली के माहौल को सजीव करने के लिए कांगड़ा कलाकार ने एक बड़ी–सी पिचकारी कृष्ण को दे दी है जिससे वह झरोखे में बैठी राधा की ओर रंग फेंक रहे हैं। राधा की सखियां घड़े भर–भर कर रंग उड़ेल रही हैं ग्वाल–बालों पर। ग्वाल–बाल विभिन्न साजों के साथ होली के हुड़दंग में व्यस्त हैं। कृष्ण की मोहक छवि और पीताम्बर दोनों ही आकर्षक बन पड़े हैं।

कांगड़ा कलम को विश्व–पटल पर लाने का श्रेय जाता है राजा संसार चंद को। ये चित्र राजा और प्रजा के संबंधों को अपने रंगों से रंग कर समाज में एक नए भाव को पैदा करते हैं। समानता के इसी भाव को उजागर करता है दक्खिनी शैली का एक चित्र – होली के रंगों का कोई धर्म नहीं होता, उसका धर्म है केवल प्रेम और सद्भावना। दक्खिन के सुल्तान भी इस भाव से न बच सके – वह भी अपने रनिवास में होली खेलने लगे। चित्रकारों के लिए यह विषय और भी प्रिय हो गया। उन्होंने अपनी कूची और रंगों से इस विषय को सजीव कर दिया।

सिख शैली के कलाकारों ने होली की खट्टी–मीठी यादों को चित्रित करने के लिए इस विषय को एक अलग ही रूप दिया है। उन्होंने होली के रंगों को तो राधा और कृष्ण के साथ जोड़ा ही है पर एक विशिष्ट संदर्भ दे दिया है युद्ध का। साथ ही नायिका, नायक को युद्ध में जाने से रोक रही है और नायक है कि युद्ध में जाने को तत्पर है। नायिका उसे होली के पर्व का, राधा और कृष्ण का वास्ता देती है। मिलन और विरह के भाव को इस चित्र में कलाकार ने बिखेर दिया है।

होली जहां नव वर्ष और रंगों से जुड़ी है वहीं वह बसंत ऋतु से भी जुड़ी है। वसंत ऋतु की उत्कंठा जगाता प्रभाव फाग तक आते–आते रंगों में सराबोर हो जाता है। इस प्रभाव को और रसीला बनाने के लिए लोग भांग का सहारा लेते हैं। भांग में सूखे मेवे और दूध मिलाकर ठंडाई तैयार की जाती है, जो रसिकों के मन में रस घोल, होली के रंगों को और गहरा कर देती है।

इस रस से भगवान शिव भी नहीं बच पाए। कांगड़ा के कलाकारों ने अक्सर शिव को पार्वती के साथ भांग छानते हुए चित्रित किया है। पर एक अज्ञात चितेरे ने इस भांग को गणेश और कार्तिकेय तक पहुंचा दिया। मां–बाप से आंख चुरा नदी की ओट लेकर दोनों भाई भांग घोटने में लगे हुए हैं। दोनों के चेहरों के भाव और गणेश का सधे हुए हाथों से भांग घोटना इस चित्र को पहाड़ी कलम की एक अनूठी कलाकृति बना देता है।

जिस प्रकार काव्य में अर्थ, ध्वनि और छंद आदि की विशेषताएं होती हैं उसी तरह चित्रकारों ने विभिन्न रंगों की कूची से होली के पूरे वातावरण को सजीव बनाने के लिए उसे कल्पना, प्रकृति–चित्रण व रसात्मकता के माध्यम से जीवंत करने का प्रयास किया है। फाग वह रंग है जिससे कोई नहीं बच सकता।

– डा. दलजीत
संग्रहाध्यक्ष (चित्रकला)
राष्ट्रीय संग्रहालय,
जनपथ, नई दिल्ली

डा० डब्ल्यू.एच. सिद्दीकी

इंडो-इस्लामिक विरासत का बेजोड़ खजाना रामपुर रज़ा लाइब्रेरी

हमारे भारत की प्राचीन सभ्यता की महिमा दुनिया भर में फैली हुई थी और विश्व की अनेक सभ्यताओं को उसने प्रभावित एवं आकर्षित किया था। शुरू के ज़माने से यवन एवं कुषाण, शक, हूण एवं मुसलमान बराबर आकर यहाँ बसते रहे।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद इस्लामी संस्कृति ने भारतवर्ष में जड़ पकड़ना शुरू किया। धीरे–धीरे इस्लामी सभ्यता व संस्कृति हिन्दुस्तान आने लगी। मुगल काल में भारत वर्ष में इस्लामी संस्कृति का बहुत सरमाया जमा हो गया। हजारों मदरसे, खानकाएं और पुस्तकालय कायम हुए और दुनियां भर से विद्वान आकर तालीम हासिल करने लगे उनमें से बड़ी तादाद ऐसे विद्वानों और सूफियों की थी जो हिन्दुस्तान में ही आबाद हो गये। हिन्दुस्तानी भक्ति और सूफी तालीम ने भारतीय समाज पर अपना बड़ा प्रभाव डाला।

हामिद मंजिल पैलेस, रजा लाइब्रेरी – रामपुर

अकबर के एल्बम (तिलिस्म) से : दुकानदार सौदा तोलते हुए, सन 1557–80 ई.

सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर हिन्दू–मुसलमान मिल–जुल गये और भाई–चारा बढ़ा और लोग एक–दूसरे के तीज–त्यौहारों में हिस्सा लेने लगे। भारतीय साहित्य, स्थापत्य, कला, शिल्प, नृत्य, संगीत इत्यादि सभी क्षेत्रों में नई शैली जो हिन्दू–मुस्लिम धाराओं के संगम से पैदा हुई तहजीब की प्रतीक थी, विकसित हुई। बाबर, हुमायूं ने आते ही अपने पुस्तकालय की स्थापना की थी जिसमें हजारों पाण्डुलिपियां बहुत सारे विषयों पर एकत्रित की गयी थीं लेकिन सबसे बड़ा पुस्तकालय अकबर बादशाह ने आगरा, फतेहपुर सीकरी में कायम किया था, जिसमें लाखों हस्तलिखित ग्रन्थ, चित्र कला के नमूने इकट्ठा थे और पुस्तकालय के अधिकारी बड़े मन्सबदार हुआ करते थे। एक बादशाह के निधन पर उसके पुस्तकालय के अधिकारी बादशाह के पास आ जाते और वह पुस्तकों को देखते थे और उसका भौतिक सत्यापन करते थे और अहम् पाण्डुलिपियों पर वह अपने नोट भी लिखते थे और मोहरें लगाते थे। इसी तरह जहांगीर और शाहजहां, औरंगजेब बादशाह की मोहरों और हस्तलेख युक्त बहुत सारी पुस्तकें पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। शाहजहाँ बादशाह पुस्तकों को पढ़कर उसकी अहमियत के हिसाब से उनको खासए अव्वल, खासए द्ववम, खासए चहरूम तक वर्गित करते थे।

1857 की स्वतंत्रता की पहली लड़ाई के पश्चात् मुगल कुतुब खाने लुट गये और उनकी अधिकांश बेजोड़ पाण्डुलिपियां एवं लघु चित्र के अलबम इत्यादि यूरोप और अमेरिका चले गये और वहां के म्यूजियम और निजी संग्रहों का हिस्सा बन गये। लेकिन खुश–किस्मती से रामपुर, हैदराबाद, भोपाल और टोंक की रियासतें बची रहीं और उनके पुस्तकालय तबाही से बच गये, इन्हीं पुस्तकालय में से रामपुर रजा लाइब्रेरी या रामपुर रजा पुस्तकालय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात है, जिसकी स्थापना 1774 ई० में रामपुर राज्य के प्रथम नवाब फैजुल्लाह खां द्वारा की गयी थी। उनके उत्तराधिकारियों द्वारा इसके संग्रह में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। 1951 में अन्तिम नवाब रजा अली खां ने इसका एक वक़्फ़ बना दिया था जिसमें वह स्वयं अध्यक्ष थे। जिलाधिकारी रामपुर सचिव होते थे। 1975 में नवाब मुर्तजा अली खां

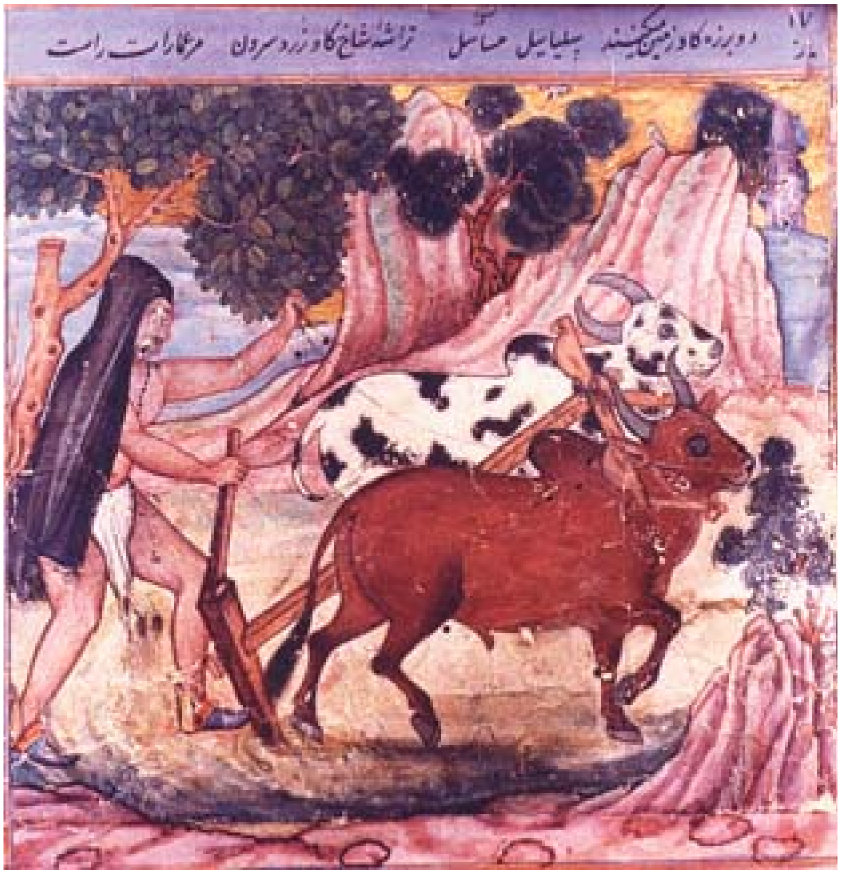

अकबर के एल्बम (तिलिस्म) से : कृषक, सन् 1557–80 ई.

के समय में यह पुस्तकालय भारत सरकार के अधीन हो गया। अब यह भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अधीन राष्ट्रीय महत्व का संस्थान है। इस पुस्तकालय में अमूल्य धरोहर सुरक्षित हैं। इसके संग्रह में 17000 पाण्डुलिपियां हैं जिनमें 175 सचित्र 205 ताड़ पत्र की पाण्डुलिपियां हैं। 5000 लघु चित्र हैं। इस्लामी सुलेख के 3000 नमूने और 76000 दुर्लभ मुद्रित पुस्तकें शामिल हैं। पुस्कालय की सम्पत्ति में पुरातात्विक भाषाओं जैसे – अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दी, तुर्की, पश्तो, आदि में इतिहास, दर्शन, खगोल–विज्ञान, ज्योतिष–गणित, चिकित्सा शास्त्र, भौतिक विज्ञान, धर्म, सूफीवाद, साहित्य, कला व शिल्प विज्ञान जैसे विषयों की पांडुलिपियाँ मौजूद हैं। लघु कलाकृतियों में तुर्क, मंगोल, मुगल, फारसी, राजपूत, पहाड़ी, अवध, दक्खिनी और भारतीय यूरोपियन स्कूल शामिल हैं।

नवाब फैजुलला खान ने अपने पुरखों से प्राप्त की हुई पाण्डुलिपियों और दस्तावेजों को अपने महल के तोशे–खानों में रखा था। इनके बाद के नवाबों में से नवाब मुहम्मद सईद खान ने 1840 ई0 के बाद इस पुस्तकालय की ओर विशेष ध्यान दिया। पुस्तकों के लिए अलग कमरे बनवाये और लकड़ी की अलमारियों में पुस्तकों को क्रमानुसार रखा गया। 1891–92 ई0 में एक मोहर बनवाई, जिस पर यह अंकित था :

''हस्त इन मुहर बर कुतुब खाना वालिये रामपुर फरजाना''

इसी जमाने में पुस्तकों की प्रतियां तैयार कराने के लिए कश्मीर से मिर्जा गुलाम रसूल और मिर्जा मुहम्मद हसन दोनों कैलीग्राफर भाईयों को बुलाया गया और सुलेख लिपि में प्रतियां तैयार करवाई गईं। इसी तरह नस्तालीख के माहिर मीर ऐवज़ मलीहाबादी को लखनऊ से बुलाया गया। इन सुलेखकारों के आने से रामपुर शहर में घर–घर सुलेख कला के प्रति रूचि पैदा हुई। 1855 में नवाब यूसूफ अली खां नाज़िम रियासत के नवाब हुए। उनके उपरान्त बहुत सारे विद्वान, शायर, लेखक, एवं कैलीग्राफर्स रामपुर में आकर आबाद हो गए। कला एवं कैलीग्राफी के क्षेत्र में रामपुर उत्तरी भारत में एक बड़ा केन्द्र बन गया। मिर्जा ग़ालिब नवाब यूसूफ अली खां नाजिम के उस्ताद नियुक्त हुए और दो

सौ रूपये माहवार वज़ीफा पाते थे।

नवाब कल्बे अली खां के शासन काल (1865–1887 ई०) में नवाब ने अपने कारिन्दे भेजकर देश के कोने–कोने से दुर्लभ एवं अमूल्य पाण्डुलिपियों एवं लघु चित्रों की खरीद कर पुस्तकालय के संग्रह में बड़ी वृद्धि की। नवाब कल्बे अली खां अरबी, फारसी, उर्दू भाषाओं के विद्वान थे। इसलिए उन्होंने मशहूर शायरों, कैलीग्राफरों एवं शोधकर्त्ताओं को अपने दरबार में जगह दी। उनके पुत्र नवाब मुश्ताक अली खां के शासन काल में मेजर जनरल अजीमुद्दीन खां ने पुस्तकालय के लिए एक प्रशासनिक समिति का गठन किया और इसके लिए स्टेट के बजट से पुस्तकालय के लिए धनराशि उपलब्ध कराई और संग्रह की एक नई इमारत बनवाई और बड़े विद्वानों के लिए लाइब्रेरी के संग्रह से लाभ उठाने के लिए अनुमति प्रदान की।

सन् 1889 में नवाब हामिद अली खां गद्दी पर बैठे, उन्होंने रामपुर किले का क्षेत्र बढ़ाया, दीवारें बनवाई और दो मुग़ल शैली के बड़े दरवाज़े बनवाये। पश्चिमी गेट हामिद गेट के नाम से मशहूर हुआ और पूर्वी गेट किले के आर्किटेक्ट डब्लू० सी० राइट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नवाब हामिद अली खां को नई इमारतें बनाने का शौक था। उन्होंने जामा मस्जिद की इमारत और विशाल कराई। इसके अलावा बाजार की इमारतें बनवाईं और किले में दो आलीशन महल बनवाये जिसमें हामिद मंजिल पैलेस सबसे विशाल एवं महत्वपूर्ण इमारत है, इसका मुगलिया तरज़ का संगमरमर का गुम्बद सात–आठ किलोमीटर से दिखाई देता है। यह इमारत इंडो–यूरोपियन शैली का बेजोड़ नमूना है। इसकी बुलन्द चोकोर मीनार और मेहराबी दर बड़े आकर्षक हैं। और इसकी दीवारें और छतों पर प्लास्टर ऑफ पैरिस की फूल पत्तियां बनाकर उन्हें सोने से सजाया गया है। यह इमारत दरबार हाल के लिए बनाई गई थी जिसमें ताजपोशी और दूसरे शाही उत्सव होते थे। बड़े दरबार हाल में पांच विशाल झाड़ जो 22 फीट और 16 फीट लम्बे हैं, जिनमें सौ साल पुराने तार एवं बल्ब आज भी जलते हैं। इस महल की गैलरी की महराबों में लाइफ साइज़ संगमरमर की इटैलियन मूर्तियाँ स्थापित हैं जिनकी खूबसूरती बयान

दीवाने हाफिज़ की एक तस्वीर जिसमें अकबर को दीवाने–हाफिज़ सुनते हुए दिखाया गया है। सन् 1575–80

से बाहर है। इस इमारत के अलावा एक और महल बनवाया गया जिसे मछली भवन कहते थे। अब उसमें राजकीय महिला डिग्री कालिज है। नवाब हामिद अली खां ने इस संग्रह को बहुत–सी पाण्डुलिपियों व लघु चित्रों की मदद से समृद्ध बनाया।

सौजन्य : रामपुर रज़ा लाइब्रेरी

चित्रित फ़ारसी बाल्मीकी रामायण, अनुवादक सुमेर चन्द 1715 ई०

रामपुर स्टेट के अन्तिम नवाब़ रज़ा अली खान भी बहुत पढ़े लिखे शासक थे और उन्हें भारतीय संगीत व कला में बड़ी दिलचस्पी थी। हिन्दी में अच्छी कवितायें भी लिखते थे। उन्होंने लाइब्रेरी के संग्रह के लिए हिन्दुस्तानी संगीत पर अरबी, फारसी, संस्कृत, उर्दू और हिन्दी की पुस्तकों की बड़ी तादात हासिल की। रियासत के भारतीय शासन के अधीन आ जाने के पश्चात् नवाब रज़ा अली खान ने लाइब्रेरी का एक्ट बना दिया जिसके अध्यक्ष स्वयं नवाब रज़ा अली खान थे और जिलाधिकारी रामपुर सचिव होते थे। नवाब रजा अली खान ने सन 1957 ई० में पुरानी बिल्डिंग से लाइब्रेरी को हामिद मंजिल में ला दिया और तब से यह इसी विशाल भवन में स्थित है और विश्व में शायद ही किसी लाइब्रेरी की इमारत इतनी खूबसूरत होगी।

पैसों की कमी के कारण लाइब्रेरी की हालत खराब हो रही थी, क्योंकि प्रदेश के शासन से बहुत छोटी धनराशि उपलब्ध कराई जाती थी। इसलिए प्रोफेसर सैय्यद नूरूल हसन, तत्कालीन शिक्षा एवं

साइन्स मंत्री भारत सरकार की कोशिशों द्वारा नवाब मुर्तजा अली खां ने रज़ा लाइब्रेरी के संग्रह को भारत सरकार को सौंप दिया और यह पुस्तकालय सन् 1975 के ऐक्ट के तहत राष्ट्रीय महत्व का संस्थान घोषित किया गया। तब से यह लाइब्रेरी भारत सरकार के संस्कृति विभाग द्वारा चलाई जा रही है और इसका सारा बजट भारत सरकार द्वारा मिलता है। रज़ा लाइब्रेरी एक्ट के तहत रज़ा लाइब्रेरी, रामपुर का एक बोर्ड बना है जिसके बारह सदस्य हैं और इसके अध्यक्ष महामहिम राज्यपाल, उत्तर प्रदेश हैं। सन् 1993 तक लाइब्रेरी का बजट दस पन्द्रह लाख रूपये था। लेकिन बाद में अधिकारियों के प्रयास से इसका सारा कार्य साइन्टिफिक तरीके से कराना शुरू हुआ और 1995 में एक संरक्षण प्रयोगशाला स्थापित की गई जिसमें फटी–पुरानी पाण्डुलिपियों, पुस्तकों एवं चित्रों की तकनीकी मरम्मत की जा रही है और अब इसका बजट ढाई करोड़ रूपये तक पहुंच गया है। संग्रह की पाण्डुलिपियों, लघु चित्रों, सुलेखों के नमूनों एवं छपी पुस्तकों को करा दिया गया है और पचास हजार इमेजिस डिजिटाइज्ड कर दी गई हैं।

रज़ा लाइब्रेरी के विचित्र एवं विशाल संग्रह में हज़रत अली के हाथ का हिरन की खाल पर प्राचीन कूफी लिपि में लिखा हुआ सातवीं सदी का पूरा कुरान शरीफ दुनिया भर में बेमिसाल है। इसी तरह आठवीं सदी में कागज पर कूफी लिपि में लिखा गया हज़रत इमाम जाफर सादिख़ का लिखा हुआ कुरान शरीफ बेजोड़ है और कागज़ पर लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सबसे प्राचीन है। नवीं सदी ई० का कुरान मजीद इमाम अबुल हसन द्वारा हिरन की खाल पर कूफी लिपि में लिखा हुआ है और यह भी अपनी एक मिसाल है। दसवी सदी ई० में बगदाद के प्रधानमंत्री इब्ने मुकला के हाथ से कागज पर लिख हुआ कुरान मजीद नसख लिपि की प्रथम मिसाल है यह भी इकलौता नमूना है जो किसी और जगह

अकबर के एल्बम (तिलिस्म) से, सन् 1557–80 ई.

सौजन्य : रामपुर रजा लाइब्रेरी

उपलब्ध नहीं है। इब्ने मुकला नसख लिपि मौजिद है। इब्ने मुकला का निधन बगदान में सन् 941 में हुआ था। अरबी पाण्डुलिपियों में एक अमूल्य ग्रन्थ शरहे कफिया रजीउद्दीन का दसवीं शताब्दी के प्रधानमंत्री नवाब सादतउल्ला खान का हाशिए पर नोट है और इसी पर शाहजहां की टिप्पणी के साथ सादत उल्लाह खान, इनायत खान, एहतेमात खान, मोहम्मद सालेह खां और औरंगजेब बादशाह के हस्ताक्षर के साथ मोहरें अंकित हैं। बगदाद के अंतिम खलीफा अलमुस्तासमी के दरबार के कैलीग्राफर याकूत अलमुस्तासमी के हाथ का लिखा हुआ अमूल्य कुरान मजीद है और दीवाने हादरा है। रजा लाइब्रेरी में पाण्डुलिपियों के कई हजार बेजोड़ ग्रन्थ हैं जिनमें से एक सौ पिचहत्तर चित्रित हैं। शायद ही किसी एक संग्रह में इतनी चित्रित पाण्डुलिपियां होंगी। इसमें सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि 'तकसीरे तबरी' है जिसका अरबी से फारसी में अनुवाद अब्दुल बाकी ने किया और जिसे मिर्जा मोहम्मद बिन मुजताहिद ने 12 वीं सदी में लिखा। इस पाण्डुलिपि पर ईरान के शाह अब्बास व कासिम बेग खां 1031 हि० के हस्ताक्षर हैं। चित्रित फारसी की पाण्डुलिपियों में चौदहवीं शताब्दी की जामे–उत–तवारीख है जो बड़े साईज़ में 1318 ई० में लिखी गई थी। मध्य एशिया के सुल्तान ग़जान खान के प्रधानमंत्री रसीदउद्दीन फजलउल्ला द्वारा लिखी गई यह मंगोलों के कबीलों की तारीख़ है, जिसमें इक्यासी तस्वीरें मंगोल, चीनी एवं ईरानी शैली में बनाई गई हैं जिनसे मंगोलों के रहन–सहन, दरबार, वेशभूषा, रस्मों–रिवाज, जंग के तरीके, उनके हथियार और उनकी कैम्प लाईफ आदि का चित्रण होता है। यह भी एक बेजोड़ पाण्डुलिपि है।

रज़ा लाइब्रेरी के संग्रह में एक और बेजोड़ चित्रित पाण्डुलिपि शाहनामा फिरदोसी है जिसे 1436 ई० में शूस्त्र (ईरान) में तैयार किया गया था। इसकी तस्वीरें भी ईरानी शैली का बेहतरीन नमूना है। इसी तरह खमसए अमीर खुसरों भी चित्रित है, जिसे 1491 ई० में तैयार किया गया था। 1542–43 ए०डी० का खमसए निजामी भी इरानी और मुगल चित्रों के साथ है। सोलहवीं शताब्दी के शुरू का पंचतंत्र, कलीला व दिमना फारसी अनुवाद में सौ चित्रों के साथ है। इसके चित्र भी बड़े दिलकश हैं। फारसी पाण्डुलिपियों के संग्रह में अकबर के शासन काल में तैयार कराए गए दिवाने उरफी के चित्र भी मुगल शैली के बेजोड़ नमूने हैं। अकबर के फतेहपुर सीकरी के तस्वीर खाने में तैयार कराया गया एक दीवाने–हाफिज है जो समकालीन कला का अद्भुत नमूना है इस पाण्डुलिपि में ग्यारह चित्र हैं जिनमें से सात पर दरबार के मशहूर चित्रकारों के हस्ताक्षर भी हैं। एक चित्र में अकबर को दरबार में दीवाने – हाफिज़ सुनते हुए चित्रित किया गया है जिससे यह पता चलता है कि अकबर ने इसे अपने पुस्तकालय के लिए बनवाया था क्योंकि दूसरे मुगलकालीन दीवाने–हाफिज़ में इस तरह की तस्वीरें नहीं पाई जाती हैं। इसी संग्रह में वाल्मीकि रामायण का फारसी अनुवाद है, जिसे सुमेर चन्द ने 1715 ई० में फरूखसियर बादशाह के जमाने में तैयार किया था। यह एक अद्भुत बेजोड़ पाण्डुलिपि है जिसमें 258 चित्र हैं तथा जिनसे समकालीन मुगल कला, स्थापत्य, वेश–भूषा, आभूषण आदि का प्रदर्शन होता है। यह ग्रन्थ हिन्दू–मुस्लिम तहजीब का बेजोड़ नमूना है। इसके पहले दो पृष्ठ कुरान शरीफ की सजावट वाले हैं और इसकी शुरूआत श्री गणेशायः नमः की जगह बिसमिल्लाह से होती है।

रज़ा लाईब्रेरी के संग्रह में संस्कृत की अमूल्य साढ़े चार सौ पाण्डुलिपियां हैं, जिसका कैटलॉग लाइब्रेरी द्वारा छापा गया है। संस्कृत भाषा की दुर्लभ पाण्डुलिपियों में प्रबोध चन्द्रिका, जो व्याकरण से सम्बन्धित है, इसे बैजनाथ बंशी द्वारा सम्पादित एवं गिरिधर लाल मिश्र द्वारा लिखा गया है। इसी तरह एक पाण्डुलिपि ज्योतिष रत्न माला है जिसे श्रीपति भट ने लिखा है। इसी प्रकार एक महत्वपूर्ण एवं रोचक कृति नटराज दीप मिश्रदा कर्मकाण्ड पर रची गई है इसमें दृष्टि बढ़ाने के लिए कुछ

मंत्रों का उल्लेख किया गया है। महिमा सूत्र एक प्रसिद्ध कृति है जो पुष्पदत्त द्वारा सम्पादित तथा मधुसूदन सरस्वती द्वारा समायोजित है।

रज़ा पुस्तकालय के संग्रह में हिन्दी की बहुत सारी दुर्लभ पाण्डुलिपियां हैं जिनमें से अधिकांश फारसी लिपि में हैं। एक दुर्लभ पाण्डुलिपि मलिक मोहम्मद जायसी की 'पद्मावत' का फारसी अनुवाद नस्तालिख लिपिबद्ध है। एक और अमूल्य पाण्डुलिपि मलिक मंजन द्वारा रचित 'मधुमालती' है, जिसे रज़ा पुस्तकालय ने पिछले वर्ष टीका सहित छापा है। इसके अलावा हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गुलाम नबी रसलीन बिलग्रामी की पाण्डुलिपियां 'अंग दर्पण' एवं 'रस प्रबोध' को, जो 1741 ई० में फारसी लिपि में लिखी गई थीं, हिन्दी रूपान्तर के साथ लाइब्रेरी ने बड़े सुन्दर ढंग से छापा है। पुस्तकालय ने शाह मोहम्मद काज़ी की हिन्दुस्तानी संगीत पर आधारित पुस्तक नग़मातुल असरार का संग्रह नादराते–शाही को भी लाइब्रेरी ने प्रकाशित किया है। रज़ा लाइब्रेरी के संग्रह में हिन्दी की एक दुर्लभ पुस्तक 'नीति प्रकाश' उपलब्ध है। यह पुस्तक शेख सादी की मशहूर किताब करीमा का हिन्दी अनुवाद है, जिसे प्रसिद्ध कवि बलदेव तिवारी ने नवाब कल्बे अली खां की फरमाइश पर लिखा था।

रज़ा लाइब्रेरी में बेहतरीन ख़ताती के तीन हज़ार नमूने हैं जिनके लिखने वाले मध्य एशिया, ईरान एवं हिन्दुस्तान के उच्च कोटि के कैलिग्राफर थे। इनके अलावा कलमी तस्वीरों के चालीस एलबम हैं जिनमें से एक अकबरी एलबम तिलिस्म है, जिसे अकबर बादशाह ने 1575–1580 में प्रसिद्ध चित्रकारों से बनवाया था। इसमें उस समय के भारत के जन–जीवन, जानवर, चिड़िया, दरिया, पहाड़, लोगों के रहन–सहन को बड़े अच्छे अन्दाज़ में चित्रित किया गया है। इसमें हल जोतने, दुकानदारों के सौदा तौलने और जादू–टोने के चित्र भी बनाये गये हैं। इसमें सात राशियों की तस्वीरें भी हैं जिनमें से सिंह राशि के चित्र में सिंह, शेर, चीते इत्यादि के बीच में अकबर को खड़ा हुआ दिखाया गया है जो बड़ा ही आकर्षक दृश्य है। रज़ा लाइब्रेरी के संग्रह में बहुत सारे पुरातात्विक अवशेष भी हैं जिनमें से ख़गोल विद्या से सम्बन्धित कई यंत्र हैं जिनमें से एक सिराज दमिश्की द्वारा 1218 ई० में बनाया गया था।

इस पुस्तकालय के संग्रह की पुरानी सूचियां तैयार करने में हकीम मेंहदी अली खां, हाफ़िज़ अहमद अली शौक, हकीम अजमल खां, मौलाना इम्तियाज़ अली अर्शी का योगदान रहा है। डा० वकारूल हसन सिद्दकी ने फारसी पाण्डुलिपियों का कैटलाग तीन भागों में प्रकाशित किया। लाइब्रेरी ने ग्यारह साल में पचास से ज्यादा अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं की पुस्तकों को छापा है।

रज़ा लाइब्रेरी के संग्रह की बहुत सारी पाण्डुलिपियों पर बादशाहों और मन्सबदारों की मोहरें, नोट्स और दस्तखत हैं, जिनमें बादशाह बाबर, अकबर, जहांगीर अब्दुल रहीम खानखाना, सादुल्लाह खां, जहांआरा बेगम, औरंगजेब, दक्खिन के अब्दुल्लाह कुतुब शाह, अली आदिल शाह, ईरान के बादशाह शाह अब्बास इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अकबर की माता हमीदा बानों बेगम बिन अली अकबर और शाहजहान की एक गुमनाम बेटी नज़र आरा बेगम, जिसका समकालीन इतिहास में कहीं जिक्र नहीं है, उसकी मोहरों से पता चलता है कि उनका अपना अलग पुस्तकालय था।

– डा. डब्ल्यू.एच. सिद्दीक़ी
विशेषकार्याधिकारी
रामपुर रज़ा लाइब्रेरी, रामपुर, उ0प्र0 – 244901

पी. नारायण

संगीत सम्राट तानसेन का गाँव बेहट

''जहाँ दिव्य संगीत आज भी गूँजता है''

कहा जाता है कि महापुरुष इसी धरा–धाम में जन्म लेकर पूरी दुनिया के नागरिक हो जाते हैं। तानसेन के संदर्भ में यह प्रमाणित है। तानसेन की मृत्यु पर तानसेन के विषय में सम्राट जलालुद्दीन अकबर ने अपनी व्यथा एवं भावनात्मक उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था कि पिछले सहस्त्र वर्षों में ऐसा गायक हिन्दुस्तान में न हुआ और न होगा। यह उद्‌गार कलमबद्ध है अकबरी दरबार के प्रसिद्ध लेखक अल्लामा अबुलफज़ल द्वारा लिखित 'अकबरनामा' में एवं उसके द्वितीय खंड 'आइने अकबरी' में। अकबर दरबार के नवरत्नों एवं महान संगीतकारों की सूचियों में सबसे प्रथम नाम तानसेन का है। सम्राट अकबर एवं संगीत सम्राट तानसेन उस युग के दो अपने–अपने क्षेत्र के महान सम्राट थे। एक हुक्मरान था तो दूसरा उस महान ईश्वरीय सत्ता का अनन्य उपासक।

बहुधा लोग तानसेन को संगीत सम्राट के नाम से जानते हैं, लेकिन, तानसेन सिर्फ संगीत विद्या में ही पारंगत एवं एक महान गायक ही नहीं थे अपितु उच्च कोटि के अगाध भक्ति से परिपूरित कवि, भाषाविद् एवं महान मंत्रद्रष्टा थे। जिनकी काव्य प्रतिभा पर जहाँगीर विमुग्ध था। महाकवि सूरदास ने इनकी प्रशंसा में दोहा ही रच डाला था :–

विधना यह जिय जानिकैं, सेसहिं दीए न कान।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान।।

वहीं संस्कृत के प्रसिद्ध कवि माधव ने अपनी रचना 'वीरभानूदय महाकाव्यम्' में तानसेन की अभ्यर्थना इन शब्दों में की है :–

गान्धर्व–विद्यामय–देह–भाजे यस्तानसेन्नाम–कलाविदेऽदात्।
रागं प्रतीह प्रति तानमेतत् प्रति ध्रुपत्कोटि शशाङ्कटङ्काम्।।
अष्टौ स यामान् नयति स्म तेन रागादिना तत्समुदीरितेन
वर्षादिकालं गमयन् महीन्द्रः सोऽवागमत्तत्र निमेषमात्रम्।।
हाहा–हूहू–तुम्बरु–नारदाद्ये क्वचित्–क्वचित् काचन भाति विद्या।
स सर्वभाषा–चतुरः समस्त–विद्या–धरोऽसौ विधिना व्यधायि।।
भूतो भविष्यन्नपि वर्तमानो न तानसेनैः सदृशो धरण्याम्।
तथा प्रसिद्धस्त्रिदिवेऽपि मन्ये नैतादृशः कोप्यनवद्य–विद्यः।।

''मूर्तिमंत गांधर्व–विद्यामय, तानसेन को जो राजा रामचन्द्र प्रत्येक राग के लिए और प्रत्येक ध्रुपद के लिए कोटि शशांक–टंका (मुद्रा विशेष) अर्पित किया करते थे तथा उन (तानसेन) के द्वारा प्रयुक्त राग इत्यादि में ही आठों प्रहर उन्हीं के साथ व्यतीत किया करते थे, वे महीन्द्र वर्षा आदि (समस्त ऋतुएँ) वहीं पर (उनके साथ)

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

राजा छत्रसाल गढ़ी – बेहट

पल–भर के समान बिता देते थे।

हाहा, हूहू, तुंबरु, नारद, आदि में कहीं–कहीं कोई विद्या दिखाई देती है किंतु उन्हें (तानसेन को) तो समस्त भाषाओं में निष्णात और समस्त विद्याओं का निधान ही विधि ने बनाया था।

तानसेन के समान भूतल पर न कोई हुआ है, न होगा। तथा मेरा अभिमत है कि स्वर्ग में भी इनके समान विद्या में अत्रुट रूप से पारंगत और विख्यात कोई नहीं।''

यूँ तो तानसेन ने उस एकमात्र असीम विराट के विभिन्न रूपों की स्तुति में अनेकानेक पदों की रचना की है लेकिन एक ऐसा पद जिसकी स्तुति प्रत्येक वर्ष सम्पूर्ण भारतवर्ष में गणेश उत्सव के दिन की जाती है। विशेषकर भक्ति रस में डूबे महाराष्ट्र के भाई एवं बहिन, अग्रज एवं बाल–बालायें सभी लोकमान्य बालगंगाधर तिलक द्वारा शुरु की गई महान् गणेश उत्सव की परंपरा में शामिल होकर प्रत्येक वर्ष रिद्धि–सिद्धि एवं ज्ञान गंगा के स्रोत भगवान गणेश की स्तुति में महाकवि एवं संगीत सम्राट तानसेन कृत पद को गाकर ही स्तुति करते हैं जो प्रातःगेय–भैरव राग में है लेकिन दुर्भाग्य से अंतिम चरण को लोग नहीं गाते और उस महामानव तानसेन का उस स्तुति के साथ स्मरण नहीं हो पाता। उनके इस पद के लिए हम सभी धर्मों के विद्याध्यायी लोग कृतज्ञ हैं। लेकिन महापुरुषों के प्रति स्मृति एवं कृतज्ञता सिर्फ उल्लासों एवं ईश्वरीय अपेक्षाओं तक ही तो सीमित है :–

उठि प्रभात सुमिरियै, जै श्री गणेश देवा।
माता जाकि पारवती, पिता महादेवा।।
अंधन कौं नेत्र देत, कुष्ठी कौं काया।
बंध्या कौं पुत्र देत, निर्धन कौं माया।।
एकदंत दयावंत, चार भुजा धारी।
मस्तक सिंदूर सोहै, मूसक असवारी।।
फूल चढ़ै पान चढ़ै, और चढ़ै मेवा।
मोदक का भोग लगै, सुफल तेरी सेवा।।
रिद्धि देत, सिद्धि देत, बुद्धि देत भारी।
'तानसेन' गजानंद सुमिरौ नर–नारी।।

जैसा कि गणेश उत्सव का इस स्तुति से अन्योन्याश्रय संबंध है और संगीत सम्राट तानसेन का नाम अन्योन्याश्रय रूप से जुड़ा है। लेकिन जैसे तानसेन के उपरोक्त पद

के साथ तानसेन विस्मृत हो गए वैसे ही संगीत एवं संगीत सम्राट तानसेन के साथ उनके जन्मस्थान बेहट में उनका पुश्तैनी घर एवं साधना स्थली जो बेहट ग्राम से पूर्व झिलमिल नदी के किनारे सुरम्य कानन (वन) के बीच उपेक्षित एवं विस्मृत है। यह स्थान यदि जर्मनी एवं अन्य यूरापीय देशों में होता तो विलियम शेक्सपीयर, लियो टॉल्स्टॉय, थॉमस हार्डी, अलेकसांद्र पुश्किन, लियोनार्दो द विंसी, एवं लुडविन वान बीथोविन के जन्म स्थानों (स्टार्ट फोर्ट अपोन एवन यात्सनाया पोल्याना इत्यादि) की तरह पूर्ण रूप से संरक्षित एक सांस्कृतिक स्थल होता। जहाँ आज भी ऐसा लगता है मानो अब भी कोई लिख रहा–गा रहा या बजा रहा है। संरक्षित इमारत, संरक्षित वस्तुएं, दुर्लभ चित्र, घटनाओं का वर्णन करने वाली पट्टिकाएं।

लेकिन भारत के महान् संगीत सम्राट तानसेन की जन्म स्थली का गाँव बेहट हिन्दुस्तान के लाखों गाँवों की तरह पिछड़ा है। लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज भी उस गाँव में कोई प्रोफेसर, इंजीनियर, डॉक्टर, प्रशासनिक अधिकारी एवं बुद्धिजीवी नहीं मिलेंगे। गाँव का शैक्षणिक स्तर अविश्वसनीय रूप से खराब है। गाँव के चारों तरफ प्राचीन छोटे–छोटे दुर्ग एवं किले हैं। गाँव में ही वीर छत्रसाल की गढ़ी है। उस गढ़ी पर अष्टधातु की प्राचीन तोपें रखी हैं, जिनमें एक गढ़ी की तोप लोगों ने काटकर बेच डाली। पुराततवीय महत्व की अनेक धरोहरें गाँव में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं, जो संरक्षण के अभाव में घोर चीत्कार कर रही हैं। गाँव में अनेकानेक प्राचीन मंदिर हैं जिनका पुरातत्त्वीय महत्त्व है। गाँव में ही राधा कृष्ण का एक अति प्राचीन मंदिर है। जिसकी दीवारों पर अनोखे रूप से चित्रित प्राचीन चित्रकला का सैंकड़ों वर्ष पुराना नमूना है। लेकिन दुर्भाग्य से मच्छर भगाने वाली दवा के छिड़काव के प्रभाव से यह लगभग अंतिम रूप से दम तोड़ चुका है। प्राकृतिक रंगों से बनी यह चित्रकला दो वर्ष पहले तक अद्‌भुत रूप से अपनी प्राचीन चमक को बनाये रखे हुए थी।

गाँव में वृक्षों के कटने से इधर पारिस्थितिकीय संकट उभरा है और विगत् तीन वर्षो से अपेक्षित वर्षा नहीं हो पा रही है। कुएँ एवं नलकूपों का जलस्तर 300 फीट से नीचे जा चुका है। अनेक पुराने बावड़ी जो राजे–रजवाड़े जमाने के बहुत ही सुंदर बने हैं, लेकिन जल बिन मछली की तरह प्रतीत होते हैं। पशुओं के लिए चारा एवं जल संकट गंभीर है। लोग प्रतिदिन अवैध रूप से वृक्षों को काटने में जुटे हैं।

दुर्भाग्य से हम लोग राजे–रजवाड़ों के कुछ प्राचीन किलों एवं कुछ स्मारकों का संरक्षण तो आजादी के पहले से करते रहे हैं, लेकिन, भारतीय संस्कृति को जहाँ से प्राण ऊर्जा मिलती रही, जहाँ से त्याग तपस्या एवं बलिदान की कहानी बनी है उस तरफ समुचित ध्यान नहीं देते। चाहे वह महाकवि विद्यापति का गाँव 'विसपी' हो यो प्रेमचन्द्र का 'लमही', वराहमिहिर का 'कापात्या' हो या डॉ. वृन्दावनलाल वर्मा का

तानसेन साधना स्थली – बेहट

'श्यामसी' या फणीश्वरनाथ रेणु का 'औराही हिंगना' अथवा अतीत के नैमीषारण्यों, दण्डकारण्यों, किष्किन्धा एवं पंचवटी के क्षेत्रों में प्राचीन साधना स्थलियाँ जो आज पूर्णतया विस्मृत है, लेकिन विलुप्त नहीं।

ग्वालियर रेलवे स्टेशन से पूर्व 47 किलोमीटर की दूरी पर ग्वालियर के वारादली–मुरार चौक से चलकर बेहट की ओर बढ़ेंगे। जाड़ों में सरसों के लहलहाते फूलों एवं अरावली की अवशिष्ट पर्वत श्रृंखलाएं कोसों दूर तक समानान्तर नजर आयेंगी। खेतों में सरसों के फूल दूर–दूर ऐसे दिखाई देंगे मानो प्रकृति ने आपके स्वागत के लिए पीले गलीचे बिछा रखे हों। मार्ग पर आगे बढ़ने पर अनायास ही अतीत के गर्भ से इतिहास की तस्वीरें उभरेंगी और एक साथ कहेंगी– वो यही तो मार्ग है, जहाँ से शाही घुड़सवार, हाथी एवं पैदल सेना अपनी पताकाओं को फहराते हुए अपने गंतव्य को जाते होंगे। आप प्राकृतिक सौन्दर्य में एवं अतीत में इस तरह खोये ही रहेंगे कि आपको पता ही नहीं चलेगा कि 'बेहट' संगीत सम्राट तानसेन के गाँव आ पहुंचे।

वहीं बसों में भरी ठसाठस भीड़। 'बेहट' बाजार चौक पर उतरकर पूर्व की ओर एक से डेढ़ किलोमीटर दूर पर कानन है। उस सुरम्य कानन–कुंज के बीच भोले बाबा शिव की मढ़ैया है। कहते हैं कि तानसेन का बचपन का नाम तन्नु, त्रिलोचन, तनसुख, अथवा रामतनु था और वे थे गूंगे। इंदल जो कामधेनु गाय की तरह एक बकरी थी, उसका दूध प्रतिदिन भोले बाबा पर चढ़ाया करते थे। एक दिन विस्मृत हो गये और शाम हो गई। लेकिन जब उनकी माता ने शाम को दूध खाने में दिया तो उन्हें अपनी भूल की याद आयी। बच्चे थे अनमोल। भोले बाबा को दूध पिलाये बिना कहाँ भला पीते। बस इंदल को लेकर चल दिये भोले बाबा को दूध पिलाने। पाँच सौ वर्ष पहले यह कानन घना था और शेर–चीते बहुतायत में मिलते थे। कहते हैं घनघोर कानन में स्थित पंचमुखी शिवमन्दिर जो शायद अति प्राचीन काल से विद्यमान है। घोर वर्षा में ही वहाँ तक पहुँचने में एक वनराज शेर ने मदद की। भोले शंकर ने प्रसन्न होकर आकाशवाणी के द्वारा कहा कि 'तुम गावो'। गूंगे तन्नू का कान सजग था लेकिन जहाँ कोई नहीं, फिर ये आवाज कहाँ से। दुबारा फिर वही आदेश। फिर क्या था! स्वर स्फुट ऐसे हुए कि कालजयी बन गये।

आज आप इस स्थल पर जायेंगे तो न पीने का पानी और न ही बिजली। इस लेख के लेखक ने रात्रि में मंदिर के पुजारी श्री नारायण पुजारी के साथ इस स्थल पर कई रात्रियाँ बिताईं। रात्रि में गहन अंधकार एवं गीदड़ों के स्वर में स्वर मिलाने की आवाज आपको सावधान करती रहेगी। श्री पुजारी की कई पीढ़ियां इस मंदिर की

तानसेन की साधना स्थली – शिव मढ़ैया एवम् उसके मौजूदा पुजारी

पूजा एवं देखरेख में गुजर गईं। श्री नारायण पुजारी आज संत हैं और पहले भी भलेमानस थे। परिस्थिति ने उन्हें बागी बनने के लिए मजबूर किया था और वे चंबल के बागी मोहरसिंह दल में शामिल हो गये थे। 1962 में भारत–चीन युद्ध के समय चंबल के ये दुर्दांत दस्यु (जिन्हें लोग समझते थे) उनमें श्री नारायण पुजारी भी थे। लेकिन एक घटना आमतौर पर अनेकानेक लोग जानते हैं कि चंबल के दस्युओं या बागियों ने तत्कालीन प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखा था कि वे सभी चीन के दांत खट्टे कर देंगे यदि भारत सरकार उन्हें सीमा पर लड़ने की इजाजत देगी तो। वह पत्र श्री नारायण पुजारी जो मोहरसिंह दल के एकमात्र पढ़े लिखे व्यक्ति थे इन्होंने ही लिखा था। राष्ट्र के प्रति भावना ने ही 1974 में श्री जयप्रकाश नारायण के श्रीचरणों में गाँधी जी के बताये मार्ग पर चलने के लिए जौरा आलापुर में हथियार डाला था। आठ वर्ष सजा स्वीकार कर गाँधी साहित्य एवं चरखे को अपने जीवन का साध्य एवं साधना दोनों बना लिया। श्री नारायण पुजारी को मध्य प्रदेश शासन ने श्री जयप्रकाश नारायण के सुझाव पर मई 1978 को पुजारी नियुक्त किया। तब से वे तानसेन महाराज की स्मृति से जुड़ी जगह को बचाये रखे हुए हैं। कहते हैं यह जगह दिव्य है। प्रत्येक पूर्णमासी की रात्रि में संगीत के दिव्य स्वर यहाँ गूंजते हैं। वैसे प्रत्येक सोमवार रात्रि 9 से 12 बजे तक ग्रामवासी संगीत की महफिल बांधते हैं। गाँव में कई युवक अनोखे कलाकार हैं। पुरुषोत्तम नामक युवक का गायन अद्भुत है। गाँव की सरपंच श्रीमती गीतादेवी हैं जो गाँव के विकास को लेकर चिंतित हैं।

संगीत सम्राट तानसेन के गाँव बेहट से उत्तर पूर्व की ओर मात्र 15 कि.मी. पर दस्यु प्रभावित भिंड जिले का मौ प्रखंड है। बेहट एवं मौ की सीमा पर अतीत के नैमिषारण्य में स्थित ऋषि जमदग्नि का जन्म स्थान 'जमदारा गाँव' है। गाँव में ऋषि जमदग्नि एवं ऋषिपत्नी रेणुका का मंदिर एवं उनके पराक्रमी ऋषि पुत्र परशुराम का गाँव जमदारा है। यह है भारत की प्रेरणा स्थली।

बेहट एवं इसके आसपास के इन मंदिरों में रखी अष्टधातु की प्रतिमाएं। जो बहुमूल्य हैं। दुःख इस बात का है कि तानसेन के गाँव 'बेहट' के राधाकृष्ण मंदिर से अष्टधातु का सिंहासन दो वर्ष पहले चोरी हो गया।

बेहट बाजार चौक से तानसेन साधना स्थली की ओर कुछ दूर जाने पर सड़क किनारे बिखरी गंदगी फिर भी प्राकृतिक सौंदर्य का अनोखा खजाना। अरावली की पर्वतमाला से घिरा हुआ सुरम्य वृक्ष संकुलित कुंज। प्रवेश करते ही आत्मशांति और अनायास भावना जागृत होगी कि यह किसी महापुरुष की साधनास्थली है।

बाईं ओर एक विशाल वटवृक्ष दिखाई देगा। वटवृक्षों की आयु हज़ारों वर्ष पुरानी कही जाती है। वैसे वनस्पति शास्त्री ही इस वृक्ष की वास्तविक उम्र की गणना कर सकते हैं। वटवृक्ष के दाहिनी ओर दस सोपान हैं। जिसके दाईं ओर लगभग 30–35 मीटर लंबा–चौड़ा सरोवर है। भाँति–भाँति के पक्षियों का कलरव अद्भुत आनंद देता है। शिव की मढ़ैया चालीस डिग्री पर एक ओर झुकी है। कहते हैं तानसेन की तान से यह झुक गई थी जो कभी सीधी नहीं होती। ऐसी किंवदंती भी है। मढ़ैया के बायें एवं दायें अति प्राचीन भवन बने हैं जो तानसेन के जन्म से पहले के बताए गए हैं।

गाँव में ही तानसेन का जन्म स्थान भी है जो अब से कुछ वर्ष पहले तक जीर्ण–शीर्ण था जहाँ अब बकरियाँ बंधी होती हैं।

ग्वालियर (गढ़गोपाचल) एवं दतिया उस जमाने में ध्रुपद गायन कला का प्रख्यात केन्द्र था। भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में इनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी, भाषा और साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य, धार्मिक साहित्य, धार्मिक सहिष्णुता आदि क्षेत्रों में उच्चतम कीर्तिमान स्थापित कर उनकी परंपराओं को भारतमाता के श्रीचरणों में समर्पित किया है। इस परंपरा में राजा मानसिंह तोमर का काल (1486–1516) ग्वालियर के सांस्कृतिक इतिहास का स्वर्णकाल था। इनके दरबार में बैजू नायक (बैजू बावरा), बख्शू एवं मदनराइ जैसे ध्रुपद के विख्यात लोग शोभा बढ़ा रहे थे। स्वयं राजा मानसिंह की धर्मपत्नी मृगनयनी संगीत विद्या में अपने सौंदर्य की तरह ही चर्चित थीं। जिन्होंने अपने पति मानसिंह तोमर की मृत्यु (1516 ई.) के बाद भी उस परंपरा को बनाये रखा। मानसिंह का पुत्र विक्रमाजीत शासनारूढ़ हो गया था। संभवतया इसी के

समय प्रतिभाशाली बाल गंधर्व तानसेन ने इस दरबार में प्रवेश किया। 'तानसिंह या तानसेन' की उपाधि राजा विक्रमाजीत ने ही प्रदान की है ऐसा प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फज़ल तथा बदायूंनी भी मानते हैं। तानसेन का गुरु मुहम्मद गौस को ठहराया जाना ऐतिहासिक भूल ही है। तानसेन के जीवन एवं कृतित्व पर विचार करने एवं लेखन करने वाले बड़े लेखकों ने उनके गाँव बेहट की यात्रा एक–दो–बार कर विशेष ढूँढने की कोशिश नहीं की है। हाँ विवाद को जन्म देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। कुछ लोग स्वामी हरिदास को तानसेन का गुरु मानते हैं तो कुछ लोग बैजू बावरा को। कुछ लोग स्वामी हरिदास का गुरु भी बैजू बावरा को ही बताते हैं। तो कभी स्वामी हरिदास को बैजू बावरा का। किंवदंती है कि वृंदावन स्थित 'निधिवन' में जाकर सम्राट अकबर ने स्वामी हरिदास के गायन को तानसेन की सहायता से सुना था। कहा जाता है कि तानसेन ने स्वयं स्वामी हरिदास के बारे में अकबर से कहा था "मैं इस धरा के जहाँपनाह के लिए गाता हूँ तो मेरे गुरु हरिदास जहाँपनाहों के जहाँपनाह के लिए गाते हैं।"

बेहट गाँव की, तानसेन के बचपन से जुड़ी एक किंवदंती प्रचलित है कि तानसेन बचपन में पशु–पक्षियों की आवाजों की नकल करने में माहिर थे। कहते हैं जब तानसेन बच्चे थे तो गाँव में साधना स्थली जो शिव बाबा की मढ़ैया है उसके आसपास अन्य बच्चों की टोली के साथ पशुचारन किया करते थे। स्वामी हरिदास भी अपनी टोली के साथ यात्रा की थकान उतारने किसी वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे। पीछे से नाहर (सिंह) की आवाज सुनाई दी। स्वामी हरिदास के शिष्य डर गये। स्वामी हरिदास ने शिष्यों को आदेश दिया कि उस नाहर (सिंह) को पकड़ कर लाओ। क्योंकि अनुभवी होने के कारण यह उन्हें किसी बच्चे की कारिस्तानी प्रतीत हुई। बात भी सत्य निकली। वो बच्चा तन्नु उर्फ तानसेन निकला जिसे उनके शिष्यों ने पकड़कर स्वामी जी के सामने पेश किया। स्वामी जी बच्चे की प्रतिभा से प्रसन्न हुए और उसके पिता से मिले। आगे कई लोगों ने गुरु शिष्य संबंधों को स्थापित करने की कोशिश भी की है। इस लेख के लेखक ने इन तमाम ऐतिहासिक एवं किंवदंतियों पर गौर कर तानसेन के जीवन से जुड़े ऐतिहासिक तथ्यों का मंथन भी किया है। आश्चर्य इस बात पर है कि तानसेन की वो साधना स्थली शिव की मढ़ैया का चतुर्दिक परिवेश हजारों वर्ष पहले जो रहा होगा, जैसा कि तानसेन के युग में था और आज भी बिल्कुल वैसा ही है। आज भी उस मढ़ैया के बगल से वैष्णव संत, श्रद्धालु मढ़ैया से पूर्व की ओर रत्नगढ़ देवी माता का मन्दिर, जो प्रसिद्ध तीर्थ है और 8 कोस की दूरी पर है, उनका दर्शन कर इसी रास्ते जंगल–झाड़ पार कर हाथ में डंडा लिए गुजरते हैं। उस युग में वैष्णव संत गाँव–गाँव एवं तीर्थ–तीर्थ की यात्रा कर ऐसे मार्ग से गुजरते थे एवं जहाँ मन्दिर एवं जल की सुविधा होती विश्राम करते। वो मार्ग आज भी मौजूद है। गांव के पास के इस कानन में आज भी बच्चों के झुंड वैसे ही कलरव करते नजर आयेंगे। भांति–भांति की डकार निकालते पशुओं को हांकते बच्चे नजर आयेंगे। इस किंवदंती के पीछे वैष्णव संत हरिदास एवं तानसेन का मिलन असंभव कतई नहीं। वैष्णव संत संगीतकला के मर्मज्ञ होते थे। वृन्दावन, रत्नगढ़ देवी, जमदारा, नारदा (नारद ऋषि का जन्म ग्राम) एवं गोपाचल (ग्वालियर) इत्यादि जगहों की दूरी एक–दूसरे से बहुत ज्यादा नहीं है। ये पुराने तीर्थ मार्गों से जुड़े हैं। स्वामी हरिदास, बैजू बावरा एवं तानसेन के संबंध कालान्तर में प्रगाढ़ बने हैं। ऐसा संभव है। ऐतिहासिक प्रमाणों में इन तथ्यों पर भी विचार करने की जरूरत है।

तानसेन की माता का नाम कमला था यह एक पद में मिलता है। लेकिन मकरंद उनके गुरु या पिता थे यह अस्पष्ट है। तानसेन का जन्मकाल इतिहासकार 1480 से 1500 के बीच ठहराते हैं जो सही प्रतीत होता है। तानसेन के पुत्र तानतरन खाँ, विलास खाँ एवं सूरतसेन थे। इसपर इतिहासकार एकमत हैं। लेकिन सरस्वती नामक पुत्री काल्पनिक है।

इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ का कहना है कि तानसेन ने अकबर दरबार में जाने पर 1562 ई. में मुस्लिम धर्म अंगीकार कर लिया। लेकिन विन्सेंट स्मिथ को महान इतिहासकार समझकर इसे स्वीकार कर लेना सही नहीं होगा। तानसेन के सैकड़ों पद हिंदू देवी–देवताओं की श्रद्धा में हैं। जो उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध में अकबर दरबार में रहकर गाए होंगे। हाँ शेख सलीम चिश्ती को कुछ ईद या अन्य अवसरों पर मुस्लिम परंपरा के अनुसार भी कुछ पद सुनाया करते थे। तानसेन के आराध्य शिव

थे और शिव एवं कृष्ण, सरस्वती एवं सूर्य भगवान की स्तुति में अनेक पद हैं। अकबर दरबार में अंतिम समय बिताने के समय उनके पुत्रों ने इस्लाम अंगीकार किया हो, यह अलग बात है। वैसे राजा मानसिंह तोमर के दरबार में बख्शू एवं बैजू नायक (बैजू बावरा) एवं अन्य हिंदू गायक एक साथ मिलजुलकर ध्रुपद गायन को एक मंजिल देने के लिए साथ–साथ रियाज करते थे।

तानसेन की यात्रा मानसिंह तोमर के बाद उनके पुत्र राजा विक्रमाजीत के दरबार गढ़गोपाचल (ग्वालियर), दौलतखाँ उजियाला, राजा बांधवगढ़ (रीवा) रामचन्द्र बघेला तक सीमित रहा। फिर अकबर द्वारा जलाल खाँ कर्सी को बांधवगढ़ भेजकर तानसेन को आगरा दरबार में अपनी ताकत के बल पर ले आना एवं राजा रामचन्द्र द्वारा अश्रुपूर्ण भावभीनी विदाई। 26 अप्रैल 1589 ई. को वे मृत्यु शय्या पर थे, यह प्रमाणिक है। तानसेन धार्मिक संकीर्णता से उठ चुके एक महापुरुष थे, ईद के अवसर पर तानसेन ने अकबर से कहा है –

(रागिनी तोड़ी, तिताला)

ईद मुबारक होबै जुग–जुग नित–नित, तुम कौं महरबान।
सकल विद्या गुन–निधान अति ही आनंद करौ,
देत गुनीन कौं आदर सनमान।।
जुग–जुग जीवौ कोटि बरस लौं, दैवौ करौ नित दान।
'तानसेन' कहै सुनौ साह अकबर,
चहूँ चतक राज करौ मरदान महा मरदान।।

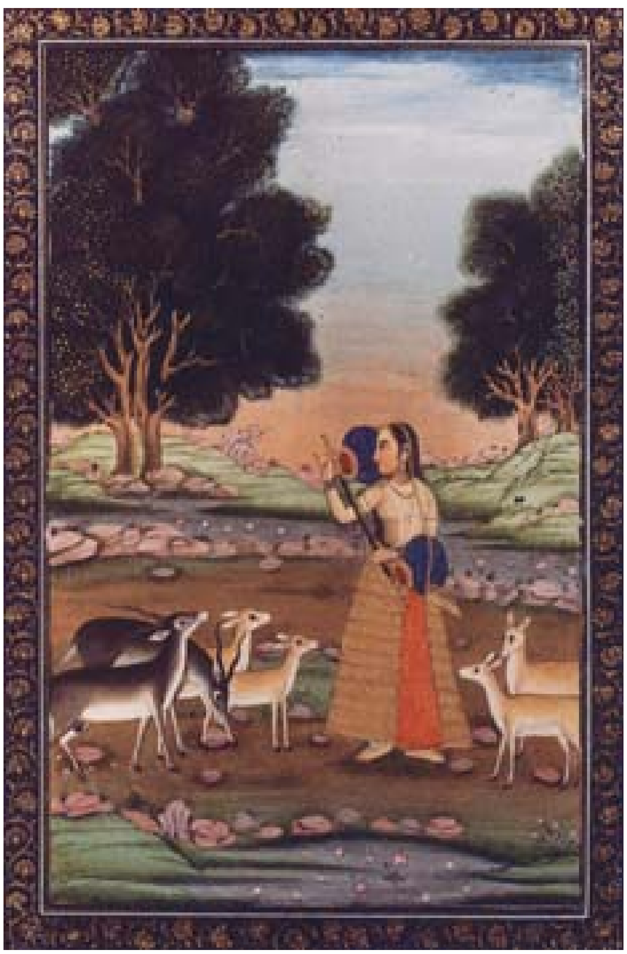

सौजन्य : रामपुर रजा लाइब्रेरी, रामपुर

रागमाला की अलबम की एक तस्वीर जिसमें रागिनी मालकोंस तोड़ी को प्रदर्शित किया गया है।

सम्राट अकबर भी अपने अंतिम समय प्रातः काल उठकर विधिवत् सूर्य–सहस्त्रनाम का पाठ करता था और इतिहास प्रसिद्ध है कि जैन विद्वान भानुचंद्र उपाध्याय ने अकबर को मार्गदर्शन दिया था। गुजरात अभियान के समय अकबर एक भयानक गलती कर बैठा था। उसकी गलती के कारण बैजू बावरा की तरह ही उनकी दो प्रसिद्ध पुत्रियों तोम और ताना ने आत्महत्या कर ली थी। इसके बाद अकबर भयानक अवसाद की स्थिति में चला गया था। अकबर की स्थिति को समझते हुए शेख सलीम चिश्ती, स्वामी हरिदास एवं अनेकानेक तीर्थों की यात्रा तानसेन ने अकबर के साथ की थी।

'संगीतसार' एवं 'रागमाला' तानसेन की प्रसिद्ध कृतियां हैं। तानसेन को राग भैरव बहुत प्रिय था जबकि राग दीपक, राग मालकोंस समेत सभी राग–रागिनियाँ मानो उनकी अनुचर थीं। तानसेन द्वारा राग दीपक के गायन से शरीर झुलस जाने की किंवदंती तो जगत प्रसिद्ध है।

– **पी. नारायण,**
महासचिव, द हेरीटेज फाऊंडेशन
ईमेल : narayanp_72@yahoo.co.in

डा॰ महीप सिंह

सह–अस्तित्व की भावना और बाबा शेख फरीद

आज के विश्व/विचार तंत्र का उत्स है – सह अस्तित्व (Co-Existence)। सहस्रों वर्षों के मतभेदों से उभरे अनेक प्रकार के विग्रह और संघर्षों से एक अवधारणा उभरी कि एक–दूसरे का विरोध करने वाले विभिन्न मतों और विचारों के लोग निरन्तर आपस में लड़ते रहें यह आवश्यक नहीं है। एक–दूसरे को ग़लत या झूठा सिद्ध करने की बजाय एक–दूसरे से संवाद पैदा करना और प्रतिपक्षी के मत को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसी विचार से सह–अस्तित्व की अवधारणा को मूर्त रूप मिला।

संसार में मनुष्य अनेक नस्लों, राष्ट्रों, देशों, भाषाओं, धर्मों, जातियों और संस्कृतियों में बँटे हुए हैं। अपने अस्तित्व और स्वत्व की रक्षा अथवा अपनी बहुमुखी शक्ति के विस्तार के लिए ये नस्लें, कौमें, या धर्म आपस में आदिकाल से ही लड़ते आ रहे हैं। संसार में ऐसे उदाहरण भी हैं जब एक नस्ल, राष्ट्र या धर्म के लोगों ने अपने विरोधी पक्ष के लोगों को लगभग नष्ट ही कर दिया अथवा नष्ट करने का प्रयास किया। इतिहास में अधिक दूर न भी जाएं तो भी इस तथ्य को तो स्मरण किया ही जा सकता है कि यूरोपवासियों ने जब संसार के नये–नये भागों को खोजना प्रारम्भ किया और वहाँ अपने उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया शुरू की तो मूल निवासियों का अस्तित्व ही समाप्त करने का प्रयास किया। आज उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा आदि देशों में वहाँ के मूल निवासी या तो नष्ट किये जा चुके हैं अथवा दूर–दूर के क्षेत्रों में घेर कर रखे गये हैं ताकि उन्हें संसार भर के पर्यटकों को अजायबघर की वस्तुओं की भांति दिखाया जा सके।

मनुष्य जाति का इतिहास आक्रमणों, लड़ाइयों, युद्धों का इतिहास है। संसार के लोगों में अनेक कारणों से आपसी मतभेद हैं और रहेंगे। सम्पूर्ण संसार कभी एक धर्म, एक विचारधारा अथवा एक राष्ट्रीयता का नहीं बनेगा। इसका सीधा अर्थ यह है कि संसार में सदा ही विभिन्नताएं रहेंगी। मनुष्य के सम्मुख चुनौती यह है कि वह विभिन्नताओं के कारण आपस में लड़ता रहे, एक–दूसरे को समाप्त करने का प्रयास करता रहे, जैसा कि मनुष्य इतिहास में होता रहा है, अथवा सह–अस्तित्व की भावना से सभी विभिन्नताओं के बावजूद, एक–दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखकर, एक–दूसरे को सहन करते हुए और वहन करते हुए जिये।

“ 'ईंट का जवाब पत्थर' या 'टिट फॉर टैट' के सिद्धान्त ने मनुष्यता को बहुत हानि पहुँचाई है। संसार में बहुत से झगड़े छोटी-छोटी बातों से शुरू होते हैं जो आगे चलकर विकराल रूप धारण कर लेते हैं। मनुष्य का अंहकार उसे बदला लेने के लिए प्रेरित करता है। बाबा फरीद ऐसे लोगों के लिए एक राह सुझाते हैं ”

आज का संसार इस निष्कर्ष पर पहुँच गया है, या पहुँचने की दिशा में प्रयास कर रहा है कि मनुष्य के लिए सह–अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है।

बाबा शेख फरीद ने इस सह–अस्तित्व की भावना को सात–आठ सौ वर्ष पूर्व उजागर किया जब सम्पूर्ण संसार में असहनशीलता, कट्टरता और संकुचित मानसिकता का बोलबाला था। सहिष्णुता की पहली शर्त यह है कि अपने विरोधियों की थोड़ी–बहुत ज़्यादती को भुला देना या क्षमा कर देना। 'ईंट का जवाब पत्थर' या 'टिट फॉर टैट' के सिद्धान्त ने मनुष्यता को बहुत हानि पहुँचाई है। संसार में बहुत से झगड़े छोटी–छोटी बातों से शुरू होते हैं जो आगे चलकर विकराल रूप धारण कर लेते हैं। मनुष्य का अंहकार उसे बदला लेने के लिए प्रेरित करता है। बाबा फरीद ऐसे लोगों के लिए एक राह सुझाते हैं –

फरीद बुरे दा भला करि गुस्सा मन न हंडाई ।
देही रोगु न लगई पल्ले सभु किछु पाई।।

बदले की भावना क्रोध से भरी होती है। यह ऐसा मनोभाव है जो प्रतिपक्ष को इतना नहीं खाता, जितना क्रोध करने वाले को। गुरुवाणी में कहा गया है कि क्रोध रूपी चांडाल जिनके अंदर बैठा हुआ है उनके पास नहीं जाना चाहिए।

उना पास दुआति न मिटीऐ जिन अंदरि क्रोध चंडालु।।

जब फरीद जी ने यह कहा कि बुराई करने वाले के साथ भी तुम भलाई करो तो आग्रह इस बात पर है कि अपने मन में गुस्से को न आने दो। ऐसा करने से देह को कोई रोग नहीं लगता और अच्छे गुण सुरक्षित रहते हैं।

अपनी इस सहनशील दृष्टि का विस्तार करते हुए वे ऐसी बात कहते हैं जो सहिष्णुता की पराकाष्ठा है–

फरीदा जो तै मारनि मुकिआं तिना न मारे धुम्मि।
आपनड़े धरि जाईऐ पैर तिना दे चुम्मि।।

दुःख देने वाले से बदला लेने के स्थान पर उसके घर जाकर उसके पैर चूमने की सम्मति बाबा फरीद जी देते हैं। इसमें भी अपना ही हित है। 'बुरे का भला कर' वाले श्लोक में वे कहते हैं– 'पल्ले सभ किछु पाई'। इस श्लोक में वे कहते हैं– 'आपनड़े घर जाईऐ'। क्षमा करने वाला व्यक्ति अपने घर में आत्म–स्वरूप में शांत अवस्था में जीता है। गुरू नानक ने भी कहा था कि क्षमा विहीन व्यक्ति सारी आयु व्याकुल ही रहता है–

खिमा विहूणे खपि गए खुहणि लख असंख।
गणत न आवै किउ गणी खपि खपि मुए बिसंख।।

अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा मांगने वाला व्यक्ति बड़ा हो जाता है। यह भी सच है कि क्षमा कर देने वाला व्यक्ति और अधिक बड़ा हो जाता है।

व्यक्ति असहिष्णु क्यों बन जाता है? राष्ट्र भी असहनशील हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी लोग बहुत छोटे दिल के क्यों हो जाते है? बाबा फरीद जी की वाणी में से इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढे जा सकते हैं। धन और सत्ता का नशा इस मनोवृति का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धन का नशा रखने वालों के लिए उन्होंने कहा कि जिन्होंने कोठे, मंडप, माड़ियां उसार ली हैं, उन्होंने जीवन में झूठा सौदा किया है। ऐसे लोग अंत में अनजान कब्रों में जाकर सो गये। जिसके पास सत्ता के धौंसे बजते थे, सिर पर छत्र झूलता था, जिनकी स्तुति

में छंद गाये जाते थे वह भी अंत में मसानों में जाकर सो गये और अनाथों की तरह ही गये–

फरीदा कोठे मंडप माड़िया उसारदे भी गये।
कूड़ा सौदा करि गये गौरी आइ पए।।

पासि दमामें छतु सिरि भेरी मडो रड।
जाई सुत्ते जीराण महि थीए अतीमा गड।।

बाबा फरीद जी की वाणी में पंजाबी लोक–जीवन में प्रचलित ऐसे रीति–रिवाज़ों की सांस्कृतिक झलक मिलती है जो किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है। उनका एक श्लोक है–

फरीदा जे जाणा तिल थोड़डे, संभलि बुकु भरी।
जे जाणा सहु नंदड़ा, थोड़ा माण करो।।

पंजाब में नवब्याहता लड़की जब अपनी ससुराल जाती है तो 'तिल भल्ले' या 'तिलवेतरे' नाम की रस्म की जाती है। इसी रस्म का रूपक बनाकर फरीद जी ने कहा कि यदि आत्मा रूपी स्त्री यह जानती है कि रस्म के लिए तिल थोड़े हैं तो वह तिलों की मुट्ठी संभाल कर भरती अर्थात् अपनी स्वासें इस तरह नष्ट नहीं करती। यदि यह पता होता कि पति सीधा–सरल नहीं है तो मैं थोड़ा ही मान करती।

शेख फरीद मुसलमान थे– एक सच्चे, पवित्र और धर्मशील मुसलमान। उनके मुसलमान होने, उच्च स्तर के इंसान होने में कोई द्वैत नहीं हैं। वे मुसलमान को नियमित नमाज पढ़ने की ओर प्रेरित करते हैं –

उठ फरीदा उजू साजि सुबह निवाज गुजारि।
जो सिर साई न निवै सो सिर कपि उतारि।।

जो मुसलमान नमाज नहीं पढ़ता, पांच वक्त मस्जिद में नहीं आता उसे ताड़ना भी देते हैं–

फरीदा बेनिवाज़ा कुतिआ एह न भली रीत।
कब ही चलि न आइआ पंचे पहर मसीत।।

इस्लाम के अनुयायियों को दिया गया यह संदेश सभी मनुष्यों के लिए संदेश बन जाता है जब वे कहते हैं कि फीका वचन किसी से न बोलो, क्योंकि सभी में सच्चा मालिक बस रहा है। किसी का भी दिल मत दुखाओ क्योंकि ये सारे जीव अनमोल मोती हैं–

इकु फिका ना गालाइ सभना है सचा धणी।
हिआउ न कैही ठाहि माणक सभ अमोलवें।।

प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा का रूप देखना, हर मन को सच्चा मोती मानना, हर किसी की भावना का सम्मान करना बाबा फरीद का मानस था –

सभना मन माणिक ठाहणु मूलि मचांगवा।
जे तउ पिरोआ दो सिक हिआउ न ठाहे कहीदा।।

(सभी के मन माणिक हैं, इन्हें दुःख देना अच्छा नहीं है यदि तुम्हें परमेश्वर से मिलने की इच्छा है तो किसी का दिल मत दुखाओ)

धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर बाबा फरीद जी ने जिस सर्वव्यापी सहिष्णुता का उपदेश दिया था वह गुरू नानक तथा परवर्ती गुरूओं के व्यक्तित्व में पूरी तरह रूपमान हुआ। सम्पूर्ण संसार में व्याप्त संकुचित मनोवृत्ति, कट्टरता और धर्मान्धता भरे वातावरण में गुरू ग्रन्थ साहिब जैसे धर्म ग्रन्थ का सम्पादन, जो सम्पूर्ण मानवीय चेतना को अपने अंदर समाहित कर सके, एक चमत्कारिक बात थी। इसकी पृष्ठभूमि में बाबा शेख फरीद के महान् व्यक्तित्व का प्रकाश काम कर रहा था, इसलिए उनकी वाणी श्री गुरूग्रन्थ साहिब में सम्मिलित हुई। सह–अस्तित्व का यह एक जीवन्त उदाहरण है।

– डा॰ महीप सिंह
एच–108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली – 110026.

पक्षी और संस्कृति

विश्वमोहन तिवारी

बातचीत के दौरान जब पत्नी का संदर्भ आता है तब क्या आप उस समय पत्नी के लिये 'पत्नी' शब्द का उपयोग करते हैं या 'wife' शब्द का ? मेरा अनुभव कहता है कि आप में से लगभग 95 प्रतिशत लोग 'wife' शब्द का उपयोग करते हैं। लगभग यही दशा 'माँ' शब्द की होगी जिसके स्थान पर आप लोग 'mother' शब्द का उपयोग करते होंगे।

हमारी संस्कृति की यह विशेषता है कि उसमें (और इसलिये भाषा में) अन्य संस्कृति (और इसलिये भाषा) की अपेक्षा माता, पिता, भाई, बहन, गुरू, पत्नी, मित्र, मामा, चाची, ताई, मौसी, फूफा आदि शब्द कहीं अधिक भावनापूर्ण हैं। यदि मैं कहूँ कि पत्नी तथा wife शब्दों में जमीन आसमान का अंतर है तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि पत्नी का सम्बन्ध हमारे यहां पवित्र माना जाता है, हमारा धर्म माना जाता है और पाश्चात्य शब्द wife में वह पवित्र सम्बन्ध से उतरकर पति–पत्नी के बीच मात्र एक अनुबन्ध हो जाता है। अब यदि आज लोगों को 'पत्नी' शब्द तथा 'wife' शब्द में अंतर नहीं समझ में आता है तब इसका अर्थ यह हुआ कि उनके व्यक्तित्व में 'पत्नी' शब्द भारतीय संस्कारों से रससिक्त नहीं हुआ। अर्थात् हम अपनी संस्कृति से कट रहे हैं। मैं कहूँगा कि इस दाम्पत्य व्यवहार का सम्बन्ध चकवा पक्षी से भी है। चकवा को अंग्रेजी में Ruddy Shelduck तथा उर्दू में 'सुरख़ाब' बोलते हैं। चकवा–चकवी न केवल जीवन भर के लिये निष्ठावान जोड़ा बनाते हैं वरन् उनका आपस में इतना गहरा प्रेम है कि वे क्षण भर का वियोग भी सहन नहीं कर सकते। उनके आहार में घास के साथ अनाज, जल–वनस्पति, मृदु कवची जीव, कवचधारी जीव तथा अन्य जलकीट सम्मिलित हैं, तथा मानव से सुरक्षा हेतु घास खाने वे रात में ही निकलते हैं। और घास खाते–खाते जब नर और मादा जरा भी ओझल हुए कि उनमें से एक पूछता है कि 'प्रिय कहां हो ?' तब दूसरा इतने शीघ्र उत्तर देता है कि लगता है कि वह उत्तर उस प्रश्न की झाँई है। उनके इस व्यवहार के कारण विरही तथा आकुल प्रेमियों की उपमा हमारे ऋषियों ने चकवा–चकवी से की है। अथर्ववेद के एक मंत्र (14/2/64 'इहेमाविन्द्र संनुद चकवाकेव दम्पती) में नवदंपति को चकवा–दम्पति के समान निष्ठावान रहने का आशीर्वाद दिया है। आज तक हिंदू विवाहों में वह मंत्र उच्चारित किया जाता है किन्तु न तो कोई उसका अर्थ समझता है और न किसी के पास उस उदात्त मूल्य के मंत्र को सुनने के लिये समय या चाह है। अपनी निष्ठा के कारण सितमुंड बदामी चकवा हमारे नीति के देवता वरुण को समर्पित है। इस वंश के दो ही पक्षी भारत को आबाद करते हैं। इसका चचेरा भाई ललचंचु सितवक्षी चकवा बलूचिस्तान में प्रजनन करता है तथा शीतकालीन प्रवास के लिये भारत आता है। सितमुंड बदामी चकवा लद्दाख, नेपाल तथा सिक्किम में प्रजनन करता है तथा शीतकालीन प्रवास भारत तथा दक्षिण तथा पूर्वी एशिया में करता है। आश्चर्य होता है कि एशियाई देशों में भी सितमुंड बदामी चकवा सम्मानित पक्षी है। सम्भवतः यह बौद्ध जातक कथाओं का प्रभाव है। चकवा की दाम्पत्य–निष्ठा अपनी दाम्पत्य–निष्ठा के लिये प्रसिद्ध सारस से भी अधिक तीव्र मानी गई है।

सुंदर आदमकद पक्षी, लोहितसिरी सारस क्रौंच की दीर्घकालीन रक्षा हजारों वर्ष पूर्व वाल्मीकि ने ही कर दी थी, जब उन्होंने एक बहेलिये को श्राप दिया था, 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं...', जिसने एक सारस क्रौंच के जोड़े में से एक का वध किया था। इस तरह हम देखते हैं कि हमारी सांस्कृतिक परंपरा में पक्षियों को हमारे जीवन के साथ आत्मीयता से जोड़ा गया है और इस अद्भुत शैली में हमारी संस्कृति वृक्षों की, वनों की, पक्षियों की पूरी प्रकृति की, हमें उनके साथ जोड़कर, उनकी रक्षा करती आ रही है। और आज हम उन सब पेड़–पौधों, वनों,

पक्षियों, तालाबों को निर्ममता पूर्वक नष्ट करने पर तुले हुए हैं। यदि हमने अपने पक्षियों के पारंपरिक नाम–मात्र भी याद रखे होते तब भी उन नामों में इतनी शक्ति है कि हम उनकी रक्षा कर रहे होते। उन नामों के कुछ उदाहरण देता हूं – 'खंजन' अर्थात् आकाश में जन्म लेने वाला और जिसे आज का अंग्रेजीप्रिय वर्ग 'Wagtail' नाम से जानता है। इसी तरह 'पुत्रप्रिय' पक्षी को अंग्रेजी में 'Hoopoe', 'प्रियआत्मज' को 'Hornbill', 'भरत' को 'Lark', 'भारद्वाज' को 'Skylark', 'वरमुखी' को 'Spotbill', 'विस्फुलिंग' को 'Minivet', 'श्यामा' को 'Indian Robin', 'श्रीवद' को 'Magpie Robin', 'शकुन्त' को 'Egyptian Vulture', 'नीलकण्ठ' को 'Blue Jay' कहते हैं। ये भारतीय नाम कितने मधुर तथा सार्थक नाम हैं!

कहीं–कहीं अपनी संस्कृति से हम इतने अधिक कट गये हैं कि स्वयं ही हमने अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उदाहरण के लिये उल्लू पक्षी को लें। कहाँ तो इसे 'लक्ष्मी का वाहन' माना गया और कहाँ हम इसका नाम सुनते ही हँस पड़ते हैं। कहाँ तो यह शुभ पक्षी है और हम इसे अशुभ मानते हैं। यह हमारे पारंपरिक ज्ञान से विमुख होने का परिणाम है। उल्लू सांस्कृतिक परम्परा में अशुभ नहीं माना गया और न मूर्खता का प्रतीक। ऋषियों ने गहरे अवलोकन तथा समझ के बाद ही उलूक को श्री लक्ष्मी का वाहन बनाया था। उन्हें मालूम था कि a fool and his money part easily.

सौजन्य : विक्टोरिया मेमोरियल, कोलकाता

भारतीय हार्नबिल, चित्रांकन – जलरंग

उलूक को लक्ष्मी का वाहन कृषियुग में बनाया गया था। कृषि युग में धन के प्रमुख स्रोत कृषि और पशु इत्यादि थे। किसान की उपज ही उस का धन है और किसान का सबसे बड़ा तथा दुर्दमनीय शत्रु – चूहा। कीड़े भी किसान के दुश्मन हैं किंतु उन कीड़ों का दमन करने वाले एक नहीं अनेक पक्षी हैं। चपल चतुर चूहे को यद्यपि चील, सुपर्ण, बाज जैसे पक्षी भी खाते हैं किन्तु उलूक कुल के पक्षियों की तुलना में बहुत कम और वह भी केवल दिन में। उलूक में ऐसे कौन से गुण हैं जिनकी सहायता से वह चूहे जैसे दुर्दमनीय जंतु का भी सर्वाधिक दमन कर सकता है ?

अन्य पक्षियों के बरअक्स एक तो, उलूक की अधिकांश जातियाँ रात में शिकार करती हैं जिस समय चूहे भी अधिक नुकसान करते हैं। और दूसरे, उलूक खेतों आदि में तो चूहों का शिकार करते ही हैं, वे बड़े अनाज गृहों में, खलिहानों में भी चूहों का शिकार करते हैं, जब कि बिल्लियां केवल घरों या भंडार घरों में, तथा शिकारी पक्षी केवल खुले में ही चूहों का शिकार करते हैं। इसे सफलतापूर्वक करने के लिये उलूक कुल में 5 गुण हैं जो उन्हें पक्षी– जगत में अद्वितीय बना देते हैं। एक तो उनकी दृष्टि इतनी तेज होती है कि वे अमावस्या की रात्रि में भी चूहे जैसे छोटे तथा काले जीव को देख लेते हैं। पक्षिजगत में उनके सिर की तुलना में उनकी आँखें सबसे बड़ी हैं। आँखें इतनी बड़ी हैं कि उलूक आँखों को आँख के कोटर में घुमा नहीं सकते। साथ ही अनेक पक्षियों की आंखों के बरअक्स, तथा शिकारी पक्षियों की

आँखों के समान वे दोनों आँखें सामने एक लक्ष्य पर केन्द्रित कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप वे अपने शिकार की दूरी तथा दिशा का अनुमान या आकलन अद्‌भुत परिशुद्धता से कर लेते हैं। अपने सम्मुख वे लगभग 40 डिग्री अंश के कोण के भीतर ही देख सकते हैं, उससे बाहर देखने के लिये, अपनी आंखों की बजाय उन्हें अपना सिर घुमाना पड़ता है। उनके सिर घुमाने की योग्यता भी अद्वितीय है क्योंकि वे लगभग 170 अंश तक अपना सिर घुमा सकते हैं।

उनकी दूसरी अद्वितीय योग्यता है उनकी 'नीरव' उड़ान की अर्थात् बिना पंखों की फड़फड़ाहट या फरफराहट आवाज के उड़ने की। अंधेरी रात में चूहे को भी नहीं दिखेगा कि ऊपर से उलूक शिकार करने आ रहा है, किन्तु चूहे के कान भी विशेष तेज होते हैं जो पक्षियों की फरफराहट को सुन लेते हैं, जिससे चूहा अपना बचाव तुरंत कर लेता है। किन्तु चूहे को तो उल्लू की नीरव उड़ान के कारण उसकी फरफराहट सुनाई नहीं देती जिसके फलस्वरूप उल्लू को चूहे के शिकार में अप्रत्याशित सफलता मिलती है। उल्लू की उड़ान नीरव कैसे होती है ? उसके पंखों में मृदुपरों का अस्तर इस तरह बनता है कि फरफराहट बहुत कम हो जाती है। मृदुपरों के घने अस्तर का दूसरा लाभ यह भी है कि कठोर शीत से उसका बचाव भी बहुत प्रभावशाली हो जाता है। हिमालय पर रहने वाले साधु संत शीतकाल में अपनी 'जैकेट' में उल्लू के यही कोमल पर भर लिया करते थे। फिर उस शीतकालीन हवा में उड़ने के कारण – उल्लुओं के लिये 'शीत गुणक' 'chill factor' भी उस ठंड को बढ़ाता है। अतः कोमल परों की कृपा से उल्लुओं में ठंडी रातों में भी उड़ने की योग्यता कहीं अधिक हो जाती है।

उनकी तीसरी योग्यता है उनकी विशिष्ट श्रवण–शक्ति। वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा खोज की कि उल्लू की श्रवण–शक्ति तीव्र तो होती है, साथ ही ध्वनि के वर्णक्रम की लगभग 6000 आवृत्ति पर विशेष तीव्र होती है। सोचा गया कि ऐसी विशिष्टता क्यों ? खोज करने पर पता लगा कि चूहों की 'चूँ चूँ' आवाज के वर्णक्रम में सर्वाधिक तेजी लगभग 6000 आवृत्ति में होती है। अर्थात् उल्लुओं के कानों की तीव्र संवेदनशीलता चूहों की आवाजों के लिये है। इसकी सहायता से चूहा यदि अंधेरी रात में झाड़ियों, वृक्षों इत्यादि के नीचे छिपा हुआ घूम रहा हो, तब भी वह आवाज करते ही पकड़ा जा सकता है।

एक तरफ उल्लू जहाँ चूहे जैसे छोटे जीव को आहार बनाने के लिये सर्वाधिक योग्य है, तो दूसरी तरफ उसकी चोंच इतनी सशक्त नहीं होती कि वह बड़े या कड़े जीवों को आहार बना सके। इससे एक तो उसका वजन कम हो जाता है जो उसकी शक्ति और वजन के अनुपात को सगुन्नत करता है। दूसरे, वह चूहे की चीर फाड़ नहीं कर सकता और उसे पूरा चूहा साबुत निगलना पड़ता है। इसका लाभ किसान को मिलता है क्योंकि उसका खलिहान चूहे की हड्डियों आदि से गंदा नहीं होता।

उसकी पाँचवीं योग्यता और भी दुर्लभ है, वह है उसकी तेज उड़ने की शक्ति के साथ धीरे भी उड़ सकने की शक्ति। यह तो आधुनिक लड़ाकू विमानों के लिये भी दुर्लभ है। जब उल्लू ऊपर से चूहे को पकड़ने के लिये तेजी से आता है तब यदि चूहा नीचे झाड़ियों में चला जाए, तब उल्लू की धीरे उड़ने की योग्यता काम में आती है, क्योंकि झाड़ियों के नीचे तेज उड़ने लायक जगह नहीं होती।

प्रकृति में उलूक परिवार का विकास, प्रमुखतः चूहों का शिकार करने तथा आहार बनाने के लिये हुआ है। और यदि चूहों को पूरी स्वतंत्रता मिल जाए तब, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है कि, वे किसान की लगभग 30 प्रतिशत उपज का नुकसान कर दें। अर्थात् यदि किसान अपनी उपज से वर्ष में एक लाख रूपए लाता तब वह केवल 70 हजार ही ला पाता। अर्थात् उल्लू किसान की उपज से आमदनी में 15 से बीस हजार तक की वृद्धि तो निश्चित ही करता है। अतः उल्लू किसानों के घर 'लक्ष्मी' लाता है। उलूक कुल के ये सभी गुण उसे लक्ष्मी देवी का वाहन बनने का अधिकारी बना देते हैं। किंतु हमारे ऋषियों की रचनाशीलता और अवलोकन–शक्ति मात्र इतनी योग्यता से संतुष्ट नहीं हुई। उन्होंने उल्लू के एक

और गुण में तथा लक्ष्मी देवी के व्यवहार में अद्‌भुत समानता देखी। जिस तरह उल्लू के आने–जाने की आहट भी नहीं आती उसी तरह श्री लक्ष्मी के भी आने–जाने पता नहीं लगता।

इस तरह हम देखते हैं कि भारत में पक्षी–प्रेम की, प्रकृति–प्रेम व संरक्षण की प्राचीन तथा प्रभावशाली परंपरा रही है जो वैज्ञानिक होने के साथ–साथ गहरे जीवन–दर्शन पर आधारित है। पाश्चात्य परम्परा में तो प्रकृति मनुष्य के उपभोग के लिये ही है, और प्रकृति को विनाश के कगार पर ले जाने के बाद यदि वे आज प्रकृति के संरक्षण की बात करते हैं तो प्रकृति से प्रेम के कारण नहीं वरन केवल इसलिये कि उन्हें अब अपना जीवन ही खतरे में दीख रहा है। केवल स्वार्थ पर आधारित सोच या सिद्धांत अंततः नुकसान ही करते हैं। किसी भी जटिल तंत्र या सिस्टम में जिसके असंख्य अवयव आपस में जटिल रूप से गुंथे हुए हैं तथा जिनकी हमें पर्याप्त जानकारी न हो, ऐसे तंत्र में किसी एक तत्त्व को, चाहे वह शीर्षस्थ ही क्यों न हो, सर्वाधिक महत्व दे देना उस तंत्र की कार्यप्रणाली में अवरोध पैदा करेगा, उसे विकृत करेगा। हमारे यहां यदि मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ माना है तो उसे बतलाया है कि पृथ्वी उसकी माँ है, उससे प्रकृति की पूजा करने के लिये भी कहा गया है। इस तरह हमने मानव की सर्वश्रेष्ठता की परिभाषा भी उदात्त कर दी है। यही तो भारतीय संस्कृति में समन्वय करने की, सन्तुलन करने की, वसुधैव कुटुम्बकम् के स्तर पर उठ कर सोचने की अद्‌भुत क्षमताएं हैं। हम इन्हें भूल रहे हैं तथा पाश्चात्य संस्कृति से विकास के नाम पर भोगवाद सीख रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भोगवाद मानव को विवेकहीन पशु बना देता है।

हम अपनी संस्कृति से कम से कम पिछले पचास वर्षों से कट रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय बनने के चक्कर में हम भारतीय भी नहीं बच रहे और हम लोग एक अजीब किस्म के पाश्चात्य तथा भारतीयता के विवेकहीन वर्ण–संकर या मिश्रण बनते जा रहे हैं, जिसमें दोनों के अच्छे गुण कम मिलते हैं तथा अवगुण अधिक मिलते हैं। जब तक कि कोई भी अपनी संस्कृति में मजबूती से स्थित नहीं होता, अन्य संस्कृति से अच्छे गुण लेने में उसे कठिनाई ही होती है। हमें अन्य संस्कृतियों से अच्छे गुण लेने चाहिये किन्तु उसके लिये हमें पहले अपनी संस्कृति में अच्छी तरह 'संस्कारित' होना चाहिये। एतदर्थ हमें अपना ज्ञान, अर्थात् हमें अपना जीवन, अपनी भारतीय भाषाओं में जीना चाहिये। हमें रोटी की भाषा को अंग्रेजी से हटाकर भारतीय भाषा बनाना है, जब तक नहीं बना सकते, तब तक 'रोटी' के अतिरिक्त हमें अपना जीवन भारतीय भाषाओं में जीना चाहिये। तब हम स्वतः ही प्रकृति से, वनस्पतियों से, पक्षियों से, मानव से प्रेम करने लगेंगे। और आज लगभग एक सौ पक्षी जो विनाश के कगार पर खड़े हैं उन्हें हम जीवनदान देकर प्रकृति के संरक्षण तथा संतुलन में महत्वपूर्ण योगदान कर सकेंगे। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यदि पक्षी नहीं बचेंगे तब मानव–जाति भी नहीं बचेगी, हालांकि हमारी संस्कृति तो पक्षियों और मनुष्य में एकत्व देखती है।

– विश्वमोहन तिवारी,
एयर वाइस मार्शल, (से.नि.)
ई 143, सैक्टर 21, नौएडा–201301

ऋग्वैदिक स्त्री और ऋषिकायें

डा. कृपाशंकर सिंह

ऋग्वेद में उस समय की सामाजिक सरंचना को लेकर जितने संकेत हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक समाज एक सुव्यवस्थित और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रौढ़ समाज रहा होगा। उसमें स्त्रियों को लेकर जो कुछ और जितना कुछ कहा गया है, उसके आधार पर समाज में स्त्रियों की स्थिति के बारे में एक निश्चित धारणा बखूबी बनती है और वह धारणा यह है कि ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों की अपनी एक सुनिश्चित भूमिका रही थी। प्रत्येक पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रिया–कलाप में उनकी भागीदारी और सक्रियता दिखाई देती है। ऋग्वैदिक परिवार में पति के बराबर ही पत्नी का दर्जा दिखाई देता है, दोनों की भूमिकायें भले ही अलग–अलग रही हों। परिवार का मुखिया पुरूष होता था, पर पत्नी भी घर की स्वामिनी की तरह ही रहती थी। (10.85.26)। ऋग्वेद में स्त्रियों को परिवार के महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में वर्णित किया गया है, परिवार और समाज में उनका सम्माननीय स्थान है, पर कहीं–कहीं दूसरी तरह के उदाहरण भी मिलते हैं।

“ उसमें स्त्रियों को लेकर जो कुछ और जितना कुछ कहा गया है, उसके आधार पर समाज में स्त्रियों की स्थिति के बारे में एक निश्चित धारणा बखूबी बनती है और वह धारणा यह है कि ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों की अपनी एक सुनिश्चित भूमिका रही थी। ”

एक उन्नत और समृद्ध समाज में अधिसंख्य अच्छाइयाँ होती हैं, पर समृद्धि के साथ छिटपुट बुराइयाँ भी आ जाती हैं। सांस्कृतिक रूप से अत्यन्त समृद्ध ऋग्वैदिक काल के समाज में भी कुछ छिटपुट बुराइयां दिखाई देती हैं। वास्तव में पूर्णतया त्रुटिविहीन समाज तो एक आदर्श स्रोत है।

अदिति पुत्रों की एक स्तुति में कहा गया है कि, हे सबके प्रार्थनीय अदिति पुत्रो, जिस प्रकार गुप्त प्रसविनी स्त्री अपने बच्चे को दूर फेंक देती है, उसी प्रकार मेरे पाप को तुम मुझसे दूर फेंक दो। (2.29.1)।

चौथे मंडल में है– पति विद्वेषिणी, दुष्टाचारिणी स्त्री की तरह यज्ञ न करने वाला अग्नि विद्वेषी, पापी व्यक्ति नरक को प्राप्त होता है। (4.5.5)

दसवें मंडल की एक ऋचा में अश्विद्वय की स्तुति में घोषा का कथन है – हे अश्विद्वय, तुम्हारे मधु को मधुमक्खियाँ इस तरह अपने मुख में ग्रहण करती हैं, जैसे कोई स्त्री व्यभिचार में रत रहती है। (10.40.6)

दिवोदास के ज्येष्ठ पुत्र प्रतर्दन ने एक ऋचा में कहा है – हे सोम, तुम शत्रु शत्रुओं का विनाश करते हुए पात्रों में इस प्रकार आते हो, जैसे जार व्यभिचारिणी स्त्री के पास आता है (9.96.23)। इसी मंडल के अड़तीसवें सूक्त में रहूगण ऋषि ने कहा – उपपत्नी (रखैल) के पास जैसे जार जाता है, वैसे ही पात्रों में सोम जाते हैं। (9.38.4)

दसवें मंडल के सूक्त 145 में सपत्नी (सौत) के विषय में कई ऋचायें कही गई हैं। इनमें इन्द्राणी ने

सपत्नी को लेकर कहा है – मैं सौत का नाम तक नहीं लेती, सौत सबके लिए अप्रिय होती है, मैं उसे बहुत दूर भेज देती हूँ। (10.45.4)

वसिष्ठ ने उषा को संबोधित करते हुए कहा – उषा तुम्हारा जो तेज सूर्योदय के पूर्व दिखाई देता है, उस तेज के कारण तुम कुलटा स्त्री की तरह न होकर पति के समीप जाने वाली पतिव्रता रमणी की तरह दिखाई देती हो। (7.76.3)

ऋग्वेद में वर्णित परिवार एकल पति–पत्नी वाला परिवार है, पर अपवाद के रूप में दो एक ऋचाओं में एक व्यक्ति की दो पत्नियों का उदाहरण भी मिल जाता है, जैसे एक ऋचा में कहा गया है – रथ वाहक बैल रथ की दोनों धुराओं को शब्दायमान करता हुआ उसी प्रकार गमन करता है, जैसे दो पत्नियों का पति रतिक्रीड़ा करता है। (10.101.11)

जिन उदाहरणों को ऊपर अभी दिया गया है, उनमें से लगभग सभी उदाहरण आलंकारिक (उपमा के रूप में) हैं। अर्थात् उन्हें सामाजिक कुरीति के तौर पर वर्णित नहीं किया गया है, वरन् अपनी बात को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिये कहा गया है लेकिन इससे यह तथ्य तो प्रकट होता ही है कि, भले ही समाज में इनकी मौजूदगी नगण्य रही हो, पर इनके अस्तित्व को एक सिरे से नकारा नहीं जा सकता।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज की परिवारिक व्यवस्था ऐसी सुन्दर और अनुकरणीय थी कि आज तक हिन्दू परिवारों में उसकी अधिकतर बातें यथावत् विद्यमान हैं।

उदाहरण के लिये हिन्दू वैवाहिक रीति–रिवाजों में ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 85 में वर्णित सूर्या विवाह से सम्बन्धित ऋचायें जिनमें वधू की पतिगृह के लिए विदाई, कन्या को दिया जाने वाला दहेज, नववधू के लिये उसके पति द्वारा कहे गये वचन – मैं तुम्हारा हाथ सौभाग्य के लिये पकड़ता हूँ, मुझ पति के साथ तुम वृद्ध शरीर वाली बनो (बुढ़ापे तक साथ रहो), सभी देव तुम्हें मेरे लिये गृहस्थ धर्म के लिये देते हैं (36)। वधू, तुम पति के घर में रहकर पति का साथ सभी दशाओं में दो (43)। हे, विश्वदेव, तुम हम दोनों के हृदयों को जलों के समान मिलाओ। हम दोनों समान गुणधर्म वाले हों। देवता हमें एकाकार करें (47)। पतिगृह में नवविवाहिता पत्नी को अपने सद्व्यवहार द्वारा सास–ससुर, देवर देवरानी के हृदय–सम्राज्ञी बनने के लिये आशीर्वचन–वधू (अपने सद्आचरण द्वारा) तुम ससुर पर महारानी होओ, सास पर राजरानी होओ, ननद पर राजरानी होओ, देवरों पर राजरानी होओ। (46)

इस तरह की बहुत सी बातें हैं, जो आज भी हमारी सांस्कृतिक रिक्थ का हिस्सा हैं। इसी सूक्त की एक ऋचा में कहा गया है – हे वधू, सुखदायक पिता ने तुम्हें जिस बन्धन से बाँधा था, वरूण के उस पाश से मैं तुम्हें छुड़ाता हूँ। ऋत (नैतिक नियम) के आधार और सत्कर्म–लोक में पति के साथ कुशलयुक्त तुझे रखता हूँ। पति–पत्नी गृहस्थ रूप में ऋत और सत्कर्म के साथ हो (24). पिता के घर से तुझे हाथ थाम कर पोषण करने वाला पति ले जाये। गृह पत्नी बनने के लिये तू पति के घर जा। तू घर की स्वामिनी बन कर रहे। (25). वधू, इस घर में तुम्हारा प्रिय भाव बना रहे। तुम दोनों बूढ़े होने तक इस घर को अपना कहना। (27) यह वधू सौभाग्यशालिनी हो। इसे आप सब आकर देखें। आप सब इसे सौभाग्य का आशीर्वाद देकर फिर अपने घर जाइये। (33)

इसी तरह पहले मंडल की एक ऋचा (1.34.2) में चन्द्रमा का वेना के साथ विवाह का उल्लेख है, जिसमें बारात में सभी देवता जा रहे हैं।

पूषा की प्रार्थना में कहा गया है – पूषा, हमें कमनीय नारी प्रदान करें। (9.67.10–11). एक और

ऋचा में है – पिता द्वारा अलंकृता कन्या जैसे पति के पास जाती है, वैसे ही सोम वायु के पास जाते हैं। (9.46.2). विवाह के समय कन्या स्वर्ण आभूषण धारण करती थी, इसका उल्लेख आठवें मंडल की एक ऋचा में किया गया है – स्वर्ण आभूषणों में विभूषित पूजनीय कन्या को अश्व के पुत्र वश के सम्मुख लाया जा रहा है। (8.46.33)

घोषा ने अपनी एक ऋचा में कहा है – जैसे दामाद को कन्यादान के समय कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करते हैं, वैसे ही मैंने इस स्तोत्र को अलंकृत किया है। (10.39.14)

इसी तरह दसवें मंडल की एक ऋचा में कहा गया है– कियती योष मर्यतो वधूयाः परिप्रीता पन्यसा बार्येण। भद्रा वधूर्भवति यति सुपेशाः स्वयं सा मित्र वनुते जनेचित्।।

कितनी स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो वधू की कामना करने वाले पुरूष के लुभावने वचन व उसके धन के कारण उस पर आसक्त होती हैं। जो स्त्री भद्र व सभ्य है, जिसका शरीर सुगठित है, वह अनेक पुरूषों में से अपने मित्र पुरूष को पति रूप में स्वीकारती है।

इस ऋचा से मुख्य रूप से दो बातें सामने आती हैं। एक यह कि कन्या का विवाह उसके यौवन को प्राप्त करने के बाद होता होगा। दूसरी बात यह कि युवती को अपने मन के अनुकूल वर चुनने की स्वतंत्रता रही होगी।

पहले मंडल की एक ऋचा (1.116.1) में भी स्वयंवर की प्रथा का संकेत मिलता है।

दूसरे मंडल की एक ऋचा (2.17.7) में यह कहा गया है कि जिस कन्या का विवाह नहीं हो पाता था, उस कन्या के भरण–पोषण की जिम्मेवारी उसके पिता की होती थी।

उस काल की स्त्रियाँ सतीत्व के प्रति आस्थावान थीं। जुहू ने अपनी एक ऋचा में कहा है – जैसे बलवान राजा का राज्य सुरक्षित रहता है, वैसे ही बृहस्पति की पत्नी जुहू का सतीत्व सुरक्षित रहा। (10.109.3). इसके आगे की ऋचाओं (4,6,7) में भी जुहू की सच्चरित्रता और पति बृहस्पति के प्रति एकनिष्ठ होने की बात कही गई है।

आठवें मंडल की एक ऋचा में वधू को वस्त्र से आवृत्त रहने की बात बताई गई हैः–

यो वा यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्मा वधूरित
सयर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना। (8.26.13)

जैसे वधू वस्त्र से ढकी रहती है, वैसे ही जो मनुष्य यज्ञ से परिवेष्ठित रहता है, अश्विद्वय उसका मंगल करते हैं।

इससे संकेत यह मिलता है कि ऋग्वैदिक स्त्रियाँ आज की साड़ी की तरह के, शरीर को आवृत्त करने वाले वस्त्र धारण करती रही होंगी।

ऋग्वेद के अनुसार आर्यों में सामान्यतया अपनी स्त्रियों को युद्ध में भेजना अनुचित समझा जाता था। दसवें मंडल की एक ऋचा (10.27.10) में इन्द्र के कथन से यह संकेत मिलता है। पर ऋग्वेद में एक ऐसे युद्ध का उल्लेख है (1.116.15) जिसमें अपने पति के साथ युद्ध करते हुए विश्यला की एक टाँग कट जाती है, जिसके लिए अश्विनी कुमारों ने लोहे (आयसी) की टाँग बनाकर विश्यला को लगायी और उसे फिर से युद्ध के लिये तैयार किया था। दासों में स्त्रियों को युद्ध में भेजने का स्पष्ट संकेत मिलता है। पाँचवें मंडल में इन्द्र का कथन है – नमुचि नामक दास ने स्त्रियों को युद्ध करने के लिये भेजा। असुर की वह स्त्री सेना मेरा क्या बिगाड़ सकती हैं। (5.30.9)

ऋग्वैदिक स्त्रियों के यज्ञ में भाग लेने का वर्णन अनेक ऋचाओं में है। पहले मंडल की एक ऋचा (1.22.9) की स्तुति में कहा गया है – हे अग्निदेव, इस यज्ञ में देवों की अभिलाषा करने वाली पत्नियों को ले आओ। इसकी अगली ऋचा में है – हे अग्नि, हमारी रक्षा के लिये देव पत्नियों को इस यज्ञ में ले आओ। (1.22.10).

पहले मंडल की ही एक अन्य ऋचा (1.131.3) में कहा गया है – इन्द्र तुम्हारे पाप रहित सेवक यजमान पत्नियों के साथ तुम्हारी तृप्ति की इच्छा से अधिक हव्यदान करते हुए यज्ञ करते हैं।

पाँचवें मंडल में है – हे अग्नि, तुम महान् हो। धर्म कार्य करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त दम्पति तुम्हें प्रभूत मात्रा में अन्न भेंट करते हैं। सभी देव हमारे द्वारा आहूत हों। धरती माँ हमारे प्रति विरूद्ध बुद्धि धारण न करें। (5. 43.15)

बृहद्वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियजुरो मिथुनासः सचन्त।
देवोदेवः सुहवो भृतु महभभ् मानोमाता पृथिवी दुर्भतौ धात्।।

इस ऋचा में धरती को माता कहा गया है। आज भी हिन्दू मान्यता के अनुसार धरती को माता की संज्ञा दी जाती है। स्पष्ट है कि धरती को माँ कहने की परम्परा ऋग्वेद से चलती चली आ रही है।

पाँचवें मंडल में ऋषि श्यावश्व ने कहा है– जो पुरूष देवों की स्तुति नहीं करता और धनदान नहीं करता है, उस पुरूष की अपेक्षा स्त्री शशीयसी अधिक महान् है। (5.61.6)

आठवें मंडल की एक ऋचा में इन्द्र का एक कथन है जिसमें स्त्री धर्म के बारे में कहा गया है – (गृहस्थ रूपी यज्ञ में) स्त्री ही ऋत्विक ब्रह्म बनती है (स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ)। हे प्रोयोगि, तुम नीचे देखते हुए चला करो, ऊपर नहीं। पैरों को मिलाये रखो, और तुम्हारे निम्नांग (कश प्लकौ) नग्न न हों। तुम्हारी जाँघों को नग्न होते कोई न देखे। (8.33.19)

पहले मंडल की एक ऋचा में कहा गया है – जैसे पति के प्रथम आह्वान पर पत्नी शीघ्र आती है (पत्नीव पूर्वहूति वावृधध्या), वैसे ही दिवस–रात्रि देवता स्तुतियों द्वारा स्तुत होकर हमारे प्रथम आह्वान पर शीघ्र आवें। शत्रुनाशक सूर्य की तरह उषा देवी सुनहरी किरणों से युक्त होकर और विशाल रूप धारण कर सूर्य की शोभा को धारण करें। (1.122.2)

पहले मंडल में ही एक अन्य ऋचा में है – हे शतयज्ञकर्त्ता इन्द्र, तुम्हारे रथ की दाहिनी और बायीं ओर घोड़े जुते हों। सोमपान से प्रसन्नचित्त होकर तुम उस रथ पर सवार होकर अपनी प्रिय पत्नी के पास जाओ। (1.82.5)

इसी तरह दसवें मंडल की एक ऋचा (10.40.10) में कहा गया है – जो लोग अपनी पत्नी की प्राण रक्षा के लिए करूण भाव से प्रार्थना करते और आँसू बहाते हैं, पत्नियों को यज्ञ कार्य में सम्मिलित करते हैं, उनकी पत्नियाँ भी आलिंगनादि कार्य में अपने पतियों को सुख प्राप्त कराती हैं, और स्वयं भी उनसे सुख प्राप्त करती हैं।

तीसरे मंडल की एक ऋचा में विश्वामित्र इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं – हे मधवन, स्त्री ही घर होती है और स्त्री ही कुल वृद्धि का आधार है। रथ में जुते अश्व तुम्हें उसी पत्नी–युक्त घर में ले जायें। (3.53.4)

ऋग्वेद में वर्णित परिवार को कुल मिलाकर एक आदर्श परिवार के रूप में देखा जा सकता है। वह एक जीवन्त परिवार–व्यवस्था है। ऋग्वेद की स्त्री सुशिक्षित और सुसंस्कृत है। ऋग्वेद के प्रणेता ऋषियों की ही

तरह ऋग्वैदिक स्त्रियों ने भी ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना की है। घोषा, जुहू, लोपामुद्रा, उर्वशी, विवृहा, विश्ववारा जैसी अनेक ऋषिकायें हुई हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण नाम इस प्रकार हैं :

घोषा –घोषा कक्षीवान की पुत्री है। उसने अश्विनी कुमारों की स्तुति में दो सूक्त (10–39 और 40) कहे हैं। उन्तालीसवें सूक्त की ऋचाओं में लोगों पर किये गये अश्विद्वय के उपकारों का वर्णन है। कहा गया है कि जराजीर्ण च्यवन ऋषि को अश्विद्वय ने यौवन प्रदान किया। तुग्र पुत्र को जल के बाहर तट पर ले आये। विमद का ब्याह कराया, वन्दन को कुँए के बीच से निकाला, विश्यला को लोहे की टाँग प्रदान की। अभि ऋषि को अग्निकुण्ड से बचाया। तेंदुए के मुख से वर्त्तिका नामक पक्षी को बचाया। इस सूक्त के अंत में घोषा कहती है कि कन्यादान के समय जिस प्रकार कन्या को वस्त्राभूषण से अलंकृत करते हैं, वैसे ही हमने अपने स्तोत्र को अलंकृत किया है।

चालीसवें सूक्त में भी अश्विद्वय की स्तुति में घोषा ने ऐसी अनेक बातें कही हैं, जिनसे उस समय के सामाजिक गठन के बारे में कई तरह के संकेत मिलते हैं।

इस सूक्त की दूसरी ऋचा में कहा गया है– जैसे विधवा स्त्री शयन के समय देवर के लिये (विधवा इव देवरम्) और पत्नी अपने पति के लिये सहस्थान बनाती है, वैसे ही यज्ञ में समादर के साथ तुम्हें कौन बुलाता है। (10.40.2)

घोषा की इस ऋचा में विधवा स्त्री के देवर के साथ सम्बन्ध की बात कही गई है। इससे प्रश्न यह उठता है कि क्या उस काल में विधवा स्त्री के देवर से सम्बन्ध को सामाजिक मान्यता थी? ऐसे सम्बन्ध की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि इसका अवशिष्ट रूप अभी भी हरियाणा में करेवा के रूप में दिखाई देता है। अभी भी हरियाणा में, विशेष रूप से जाटों में, बड़े भाई की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी का विवाह उसके छोटे भाई से होता है। भले ही छोटा भाई पहले से विवाहित हो। हरियाणा ऋग्वैदिक भारत का एक मुख्य भाग रहा है। स्वामी दयानन्द ने इस ऋचा को लेकर लिखा है कि – ''यदि मृत्यु के कारण पति का पत्नी से वियोग हो जाए तो पत्नी संतान की इच्छा होने पर देवर तुल्य पुरूष से नियोग द्वारा संतान प्राप्त कर सकती है।''

घोषा में एक और ऋचा में कहा है –हे अश्विद्वय, मेरी केवल यही अभिलाषा है कि, मैं स्त्री के प्रति अनुरक्त और बलिष्ठ पति के घर जाऊँ। (10.40.11)

हे अश्विद्वय, तुम दोनों की कृपा मुझे प्राप्त हो, पति के घर जाकर हम पति के लिये प्रिय बनें।(10.40.12)

हे अश्विद्वय, पति के घर में धन और संतान दो। मेरे जल पीने के तट को सुविधाजनक बनाओ। मेरे पतिगृह के मार्ग के विध्नों को दूर कर दो। (10.40.13)

उर्वशी – ऋग्वेद में उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम–प्रसंग को सुन्दर काव्यात्मक रूप में चित्रित किया गया है। पुरूरवा राजा है, वह उर्वशी के प्रेम पाश में बँधा हुआ है। उर्वशी उसके साथ कुछ दिन व्यतीत करने के बाद वापस लौट जाना चाहती है । वह तो अप्सरा ठहरी। उसे लौटना ही है। पर पुरूरवा उससे बिछुड़ना नहीं चाहता, वह लौट आने के लिये उसे हर तरह से मनुहार करता है। अपने प्रेम का वास्ता देता है। पुरूरवा उसके बिना जिन्दा नहीं रह पायेगा। वह आज ही गिर पड़ेगा और खूँखार भेड़िये उसे खा जायेंगे। पर उर्वशी जाने के लिये विवश है, उसे जाना ही है। वह पुरूरवा को समझाती है – हे पुरूरवा, तुम धरती पर मत गिरो, न अशिव भेड़िये तुम्हें खायें। स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती। स्त्रियों के हृदय भेड़ियों के हृदय के समान होते हैं।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 95 में पुरूरवा–उर्वशी संवाद है। इसकी आठवीं और नौवीं ऋचाओं में अमानुषी अप्सराओं का उल्लेख है, उससे उर्वशी के अप्सरा होने की सम्भावना को बल मिलता है। पर इस सूक्त के संवाद मानवी प्रेमी–प्रेमिका के संवाद ही लगते हैं। पुरूरवा राजा है, उर्वशी कहीं की राजकुमारी हो सकती है।

पुरूरवा–उर्वशी संवाद की ये ऋचायें इन्हीं दोनों के द्वारा रचित समझी जाती हैं। पर इस सूक्त (95) की सत्रहवीं ऋचा में 'वशिष्ठ' नाम भी आता है, इससे लगता है कि इस सूक्त की ऋचाएं सम्भवतः वशिष्ठ द्वारा ही कही गई हों।

जुहू – जुहू के नाम से ऋग्वेद में सात ऋचाओं वाला एक सूक्त (10.109) मिलता है। इस सूक्त से लगता है कि जुहू के पति बृहस्पति ने किसी अनबन के कारण उसे त्याग दिया था, पर बाद में देवताओं की मध्यस्थता और प्रयत्न से दोनों पति–पत्नी में फिर से मिलाप हुआ। सूक्त की तीसरी ऋचा में कहा गया है – देवों ने बृहस्पति से कहा – 'यह तुम्हारी यथाविधि विवाहिता पत्नी है, तुम्हें इनके शरीर को बाँह फैलाकर ग्रहण करना चाहिए। इन्हें ढूँढने के लिए जो दूत भेजा गया था, उसके प्रति ये अनासक्त रहीं। ताकतवर राजा के राज्य के समान इनका सतीत्व सुरक्षित है। (10.109.3)

इस ऋचा से ऋग्वेद काल में पत्नी के सतीत्व के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है।

इसके आगे की ऋचा में भी पत्नी के शुद्ध चरित्र सम्पन्न होने की बात कही गई है। यह भी कहा गया है कि चारित्रिक शुद्धता और तपस्या से निकृष्ट पदार्थ भी उच्च स्थान को प्राप्त करता है।

दसवें मंडल के इस सूक्त (10.10) के ऋषि के सूक्त 86 की ग्यारह से बीस तक की दस ऋचायें सिकता निवावरी द्वारा रची हुई मानी जाती हैं। इन ऋचाओं में सोम की महिमा का गान है।

द्युलोक का स्वामी, विचक्षण, शतधार, हरितवर्ण और रसरूप सोम, कल–कल करता हुआ कलश में प्रवेश करता है। (9.86.11)

द्यौचुम्बी, तेजोमय द्रापि पहने, यजनीय और अंतरिक्ष पूरक सोम अपने प्राचीन पितर (इन्द्र) की सेवा करता है। (9.86.14)

<u>**शची पौलोमी**</u> :– शची पुलोम की पुत्री और इन्द्र की पत्नी थी। इसके नाम से दसवें मंडल का एक सूक्त (10.159) ऋग्वेद में मिलता है। इस सूक्त से आभास होता है कि शची बलवती और (अभिमानिनी) स्त्री रही होगी। सूक्त में शची अपनी शक्ति और सामर्थ्य का बख़ान करती है। पहली ऋचा में सौतों को परास्त करने की बात भी कही गई है।

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको मगः।
अंह तद्विद्वला पतिमम्यसाक्षि विषासहिः ।। (10.159.1)

सूर्यं उदित हुआ मानो मेरा भाग्योदय हुआ। मैंनें सौतों को परास्त कर दिया है, और पति को अपने वश में कर लिया है।

दूसरी ऋचा में है –

अंह केतुरह मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत।। (10.159.2)

मैं ध्वजा के समान यश, वैभव का प्रदर्शन करने वाली और मस्तक के समान सम्माननीय हूँ। मैं उग्र सुन्दर बोलने वाली हूँ। मैं शत्रु को जीतने वाली सर्वश्रेष्ठ हूँ। मेरा पति मेरे मत के अनुसार ही चलता है।

एक अन्य ऋचा में है – मैं सब सौतों को जीतने

वाली हूँ, इसीलिये वीर इन्द्र पर मेरा प्रभुत्व है। कुटुम्बजनों पर भी मैं शासन करती हूँ। (10.159.6)

इन्द्राणी :— इन्द्राणी भी इन्द्र की पत्नी है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 145 और 86 की कुछ ऋचायें इन्द्राणी द्वारा कही गई हैं। इन ऋचाओं से इन्द्राणी के स्वभाव की दो बातें जाहिर होती हैं। वह वृषाकपि के प्रति ईर्ष्यालु है। कारण यह कि इंद्र वृषाकपि को अपना परम सखा मानते हैं। वृषाकपि अग्नि है जिसके मुख से इंद्र हवि ग्रहण करते हैं। वृषाकपि के प्रति इन्द्र का अधिक झुकाव इन्द्राणी को सहन नहीं हो पाता। वह कहती है — हे इन्द्र, तुम (हमेशा) वृषाकपि के पास दौड़े जाते हो। सोमपान के लिये अन्यत्र क्यों नहीं जाते? (10.86.2)

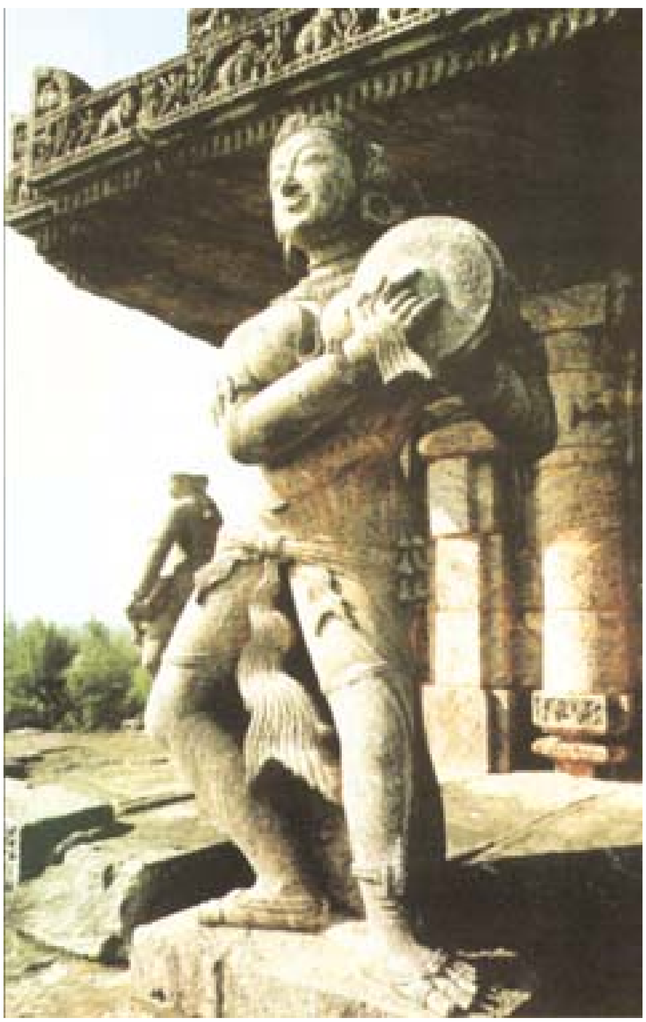

हे इन्द्र, तुम जिस वृषाकपि के रक्षक हो उसके कान को वराह को काटने की इच्छा रखने वाला कुक्कुर काटे। (10.86.4)

इन्द्राणी के स्वभाव की दूसरी बात जो ऋग्वेद में कही गई है, वह है सौत के प्रति उसका द्वेष। वह सौत से छुटकारा पाने के लिये जड़ी बूटियों का सहारा लेती है। दसवें मंडल के सूक्त 145 में इन्द्राणी सौत को इन्द्र की निगाहों में गिराने और स्वयं उनकी निगाह में महत्वपूर्ण बनने के लिये औषधि का प्रयोग करती है। वह कहती है— औषधि, तुम्हारे पत्ते उत्तानमुख हैं। तुम देवों को पसन्द हो। हे सुभगे (औषधि), तुम सौत को मुझसे दूर कर दो और पति को केवल मेरा बना दो। (10.145.2)

औषधि, तुम उत्तम हो, मैं भी उत्तम बनूँ, उत्तम से उत्तम बनूँ। मेरी सौत नीचे से भी और नीचे हो जाय। (10.145.3)

एक और ऋचा में इन्द्राणी कहती है — औषधि, तुम और मैं दोनों शक्ति—सम्पन्न हैं, आओ, हम दोनों मिलकर मेरी सौत को बल—हीन कर दें। (10.145.5)

लोपामुद्रा :— यह वसिष्ठ के भाई अगस्त्य की पत्नी थी। पहले मंडल के सूक्त 179 की छः ऋचाओं में लोपामुद्रा और पति अगस्त्य का कथोपकथन है। पहली ऋचा में लोपामुद्रा कहती है —

पूर्वीरहं शरदः सश्रमाणा दोषा वस्तोसषसो जरयन्तीः।

मिनति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नू पत्नीवृष्णेजगम्युः।। (1.179.1)

अगस्त्य, बीते वर्षों से बुढ़ापा लाने वाली उषाओं को मैं दिन रात सहती रही। बुढ़ापा शरीर की सुन्दरता को नष्ट कर देता है। फिर ऐसी पत्नी के पास पुरूष क्यों जाये। (1.179.1)

(अगस्त्य) – हम वृथा नहीं थके, देवता हमारी रक्षा करते हैं। हम सारे भोगों को पा सकते हैं। यदि हम दोनों चाहें, तो इस संसार में हम दोनों सैकड़ों भोगों को प्राप्त कर सकते हैं। (1.179.3)

चौथी ऋचा में अगस्त्य कहते हैं –

नदस्य मा रूधतः काम अगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्। लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धपीरमधारा धयति श्वसन्मतम्।। (1.179.4)

हे पत्नी, मैं जप और संयम में लगा रहा। काम को मैंने रोका है, पर वह इधर–उधर कहीं से आ जाता है। लोपामुद्रा, तुम मुझ पति के साथ संगत हो। अधीरा कामिनी लोपामुद्रा, तुम मुझ महाप्राण पुरूष का भोग करो।

वसुक्र पत्नी :– वसुक्र इन्द्र का पुत्र था। उसकी पत्नी के कथन के रूप में ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 28 की पहली ऋचा मिलती है। वैसे इस सूक्त के रचयिता के रूप में वसुक्र का ही नाम है। पहली ऋचा में वसुक्र पत्नी कहती है – हमारे यज्ञ में सारे देवता आये, केवल मेरे ससुर इन्द्र नहीं आये। यदि वे आये होते तो भुना दाना (जौ का दाना) खाते और सोम पीते। अच्छी तरह खाने–पीने के बाद फिर अपने घर जाते । (10.28.1)

इस ऋचा से यह प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में भुना दाना खाना प्रचलित था, जो इस क्षेत्र में आज भी प्रचलन में है।

विश्ववारा :– विश्ववारा अभि गोत्र में जन्म लेने वाली ऋषिका थी। उसके नाम से ऋग्वेद के पाँचवें मंडल में एक सूक्त (5.28) है। इस सूक्त में अग्नि की स्तुति की गई है।

प्रज्ज्वलित होकर अग्नि अंतरिक्ष में तेज को प्रकाशित करती हैं, और उषा के सम्मुख विस्तृत होकर शोभा पाते हैं। हवि सहित श्रुवा को लेकर स्तवन करती हुई विश्ववारा पूर्व की ओर मुख करके गमन करती है। (5.28.1)

हे अग्नि, हम लोगों के प्रभूत सौभाग्य के लिये और शोभन धन के लिये तुम्हारा प्रकाश उत्तम हो। तुम शत्रुओं का दमन करो। दाम्पत्य (संबंध) को तुम सुनियमित करो, और हमसे शत्रुता करने वालों के तेज को नष्ट करो। (5.28.3)

ऋग्वेद की इन ऋषिकाओं के अलावा सूर्या (10.8), सार्पराज्ञी (10.169), सुदेवी (1.112.19), श्रद्धा (10.151), शिंखडिनी काश्ययी (9.104), विवृहा (10.163.102), शाश्वती (8.134), विश्यला (8.182), अदिति (10.72) आदि के नाम भी ऋग्वेद में आते हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख ऋचाओं के रचयिता के रूप में भी किया जाता है।

– कृपाशंकर सिंह

सी–4/86/2 सफदरजंग विकास क्षेत्र
हौज खास, नई दिल्ली–110016.

मृणाल पाण्डे

माँ से प्रभावित होता है स्त्री का व्यक्तित्व

जब एक माँ अपने नवजात का पहली बार स्पर्श करती है तो शिशु लड़का हो या लड़की, उसके मन में अनेक भावनाएँ समवेत रूप से उमड़ आती हैं। उत्सुकता, प्यार, भय, शंका, परिपूर्णता का अहसास, तृप्ति–अतृप्ति और नवजात शिशु यदि कन्या हो तो माँ को वह एक मायने में अपने वजूद का एक विस्तार, अपना एक नन्हा अक्स भी प्रतीत होती है। एक साथ एक गहरे बन्धन और मुक्ति की कामना, एक राग और विराग का द्वैत, जो एक स्त्री में अपने आपको लेकर भी मौजूद रहता है, माँ और बेटी दोनों को अपनी परिधि में ले लेता है और यह अनेक स्तरोंवाला जटिल बन्धन तब से दोनों के जीवन के अन्त तक चलता जाता है। माँ बनने से पूर्व एक स्त्री के मन में खुद अपने आपको लेकर कैसी भावना है ? उसकी आत्मछवि सकारात्मक है या नकारात्मक ? यह उसकी बेटी की परवरिश और बेटी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, दोनों पर आगे जाकर गहरा असर डालती है।

'क्वचिदपि कुमाता न भवति'–जैसी उक्तियों के बावजूद स्त्रियों की अनुभूत सच्चाई यह है कि कोई भी स्त्री जन्मना सुमाता का रोल सीखकर नहीं आती। माँ बनने के बाद ही वह मातृत्व के बारे में हर दिन कुछ नया सीखती और आत्मसात् करती है और मातृत्व की लम्बी दौड़ में (किसी भी प्रशिक्षण प्रक्रिया की तरह) कभी खुशी कभी गम, कभी भूल, कभी चूक का होना एक सहज–स्वाभाविक बात है। हमारे यहाँ माँ को मनुष्य की बजाय देवी और मातृत्व को हर कुतर्क के परे एक लगभग दैवीय और पूजनीय स्थिति माना–बखाना जाता रहा है और एक औसत माँ जब कभी–न–कभी अपनी (नितान्त मानवीय) अक्षमताओं के चलते शिशु के प्रति क्रोध या चिढ़ की भावना का अनुभव करती है तो उसका मन बेवजह एक गहरी ग्लानि और अवसाद से भर उठता है। इस ग्लानि की कचोट के चलते अनेक बार युवा माँएं अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विस्तार करने से झिझकती हैं और बाद में 'कुछ न बन पाने' की उनकी खीझ गलत–सलत मुद्दों पर, बच्चों, खासकर बेटियों पर टूटती रहती है कि कैसे उसका सारा युवाकाल 'घर–गृहस्थी' और बच्चे पालने में ही सिमटकर रह गया।

अपनी बेटियों से अपना जटिल और गहन रिश्ता सही तरह समझ पाने को मैंने अनेक माँओं की तरह बार–बार अपने और अपनी माँ के रिश्तों के बारे में सोचा है। हममें से अधिकतर माँओं ने खुद अपनी माँओं से बचपन में ही एक गूढ़ अनकहा समझौता किया होता है कि हम अपने आपसी रिश्ते की पवित्रता को ईश्वरीय देन की तरह शिरोधार्य करेंगी। उस पर कभी कोई सवालिया निशान नहीं लगाएँगी और माँएं पूरे बचपन भर प्रायः हम सभी के लिए आदेश का स्रोत बनकर

> "नवजात शिशु यदि कन्या हो तो माँ को वह एक मायने में अपने वजूद का एक विस्तार, अपना एक नन्हा अक्स भी प्रतीत होती है। एक साथ एक गहरे बन्धन और मुक्ति की कामना, एक राग और विराग का द्वैत, जो एक स्त्री में अपने-आपको लेकर भी मौजूद रहता है, माँ और बेटी दोनों को अपनी परिधि में ले लेता है और यह अनेक स्तरोंवाला जटिल बन्धन तब से दोनों के जीवन के अन्त तक चलता जाता है।"

विनम्र आज्ञाकारिता की एक स्थली रचती हैं। अच्छी लड़की बनने के लिए हम क्या खाएँ, पहनें, खेलें या पढ़ें ही नहीं, हम क्या बोलें, क्या सोचें, कैसे सपने देखें, इस पर भी बेटियाँ अहर्निश माँ की चौकस पहरेदारी अनुभव करती रहती हैं। दो मनुष्यों की तरह मित्रवत् अपना हर सुख–दुःख वे बाँट नहीं पातीं।

और यहीं पर टकराव का बिन्दु उभरता है। जब एक स्वतन्त्र चेतना का सहज विस्तार परम्परा की जड़ता से जा भिड़ता है। सबसे परे माँ एक हाड़–मांस का कैसा मनुष्य है, उसके अन्तर्मन में कही–अनकही कितनी व्यथा, कितनी ललकभरी हसरतें पैठी हैं और उसके कहे के पीछे क्या गूढ़ संकेत दिपदिपाते हैं, यह बात कितनी बेटियाँ जान पाती हैं ? समय रहते–

'...वे अब/संसार हो गए हैं
छोटे–छोटे बच्चे
जो मेरी आँखों में खेलते थे
और
आँखों में ही सो जाते थे/वे बच्चे
अब संसार हो गए हैं।'

(अमृता भारती)

'दो स्त्रियां', चित्रांकन : वाई. गुनिद्रो, 2002, केनवास पर एक्रेलिक

एक रचनाधर्मी माँ का जीवन परम्परा से लगभग मुक्त होता है इसीलिए वह अपनी बेटियों को भी ग्लानि और परम्परा के पथरायेपन से मुक्त कर पाती है और एक बुद्धिमती, संवेदनशील बेटी जल्दी ही देख पाती है कि मानवीय रिश्तों और सामाजिक व्यवहार को लेकर माँ उसे जो आचरण संहिता पालन करने के लिए दे रही है, खुद उसका निजी जीवन और लेखन उसका कैसे उल्लंघन करता है। माँ तथा पिता का दाम्पत्य जीवन और उसके विविध पहलू, माँ की रचनाओं में से सुनाई देती स्वायत्तता की अ–स्त्रियोचित ध्वनियाँ और माँ के

सामाजिकता से सार्वजनिक और वैयक्तिक रिश्तों की भिन्नता सब ज्यों–ज्यों पुत्री के आगे स्पष्ट होते हैं, वह स्त्रीत्व के नए कोण, नई गहराइयाँ देख पाती है। यह मेरा निजी अनुभव है।

मेरे मातृत्वकाल के आते–आते मेरी माँ के समय से हमारा समाज काफी बदल चुका था, लेकिन फिर भी आमतौर से खाते–पीते मध्यवर्गीय घरों में स्त्रियों को ताउम्र एक कीमती थाती और गुड़ियानुमा लड़की ही माना और बनाया जाता था। वर्जीनिया वुल्फ के ये शब्द मेरी समवयसा भारतीय महिलाओं के लिए भी अक्षरशः लागू होते थे–

'...औरतों के बारे में जानकारियाँ एकदम नगण्य हैं। औपचारिक इतिहास भी हर जगह पुरुष आनुवांशिक परम्परा की ही गाथा है, मातृवंश की नहीं। पिताओं के बारे में हम जानते हैं कि वे सैनिक थे या जहाजी या अमुक ओहदे पर विराजित थे वगैरह, लेकिन हमारी माँओं या नानी–दादियों के बारे में उपलब्ध जानकारियाँ क्या हैं ? बस यही कि उनके नाम क्या थे, उनकी शादियाँ कब किन खानदानों के कौन–से पुरुषों से हुईं और उन्होंने कितने बच्चे पैदा किए....।'

शायद यही वजह है कि मेरे अधिकतर पूर्ववर्ती तथा हमउम्र पुरुष लेखकों–कवियों की रचनाओं में माँ या दादी–नानी की छवि मुझे प्रायः उनके (कठोर अन्तर्मुखी और अनुशासनप्रिय) पिताओं से एकदम भिन्न एक सरल, भोली और भयार्त बच्ची–सी ही दिखाई देती है। अमरकान्त की रचना 'दोपहर का भोजन', मोहन राकेश की 'आर्द्रा', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', ज्ञानरंजन की 'पिता' जैसी रचनाओं में माँओं के किरदार इस पारम्परिक दृष्टि का प्रमाण हैं लेकिन इसके अपवाद भी हमें मिलते हैं। कृष्ण बलदेव वैद की 'उसका बचपन', कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की', मन्नू भंडारी की 'आपका बंटी'–जैसी रचनाओं में माँएं हिन्दी साहित्य के पारम्परिक मातृत्व के इकरंगी क्षीण कलेवर से मुक्त हैं। उनके अपने स्वतंत्र विचार हैं, इच्छाएँ और स्मृतियाँ और अभिव्यक्ति के ढंग हैं, जो मातृत्व के परे उनके जीवन की पूरी परिधि में, खूब दूर तलक ले जाते हैं।

महिला–मुक्ति आन्दोलन के विभिन्न मोड़ों तथा उससे जुड़े किरदारों के मास–मीडिया में किए जा रहे सपाट और उद्धृत चित्रण आज आम लोगों को प्रायः विरक्त करते हैं। वजह यह कि अभी भी इस दिशा में लगभग नगण्य ध्यान दिया जा रहा है कि सचमुच ही स्त्रियों के अपने मुख से बताए अनुभवों, उनके पत्राचार, आत्मकथ्य तथा डायरियों के माध्यम से एक स्त्री के अपने ही रक्त–मांस की बेटी से कैसे रिश्ते होते हैं, उसे खोजा तथा लिपिबद्ध किया जाए। एक स्त्री का व्यक्तित्व और कृतित्व (चाहे उसकी सन्तान हो या अन्य रचनात्मक कार्य) जितनी गहराई से अपनी माँ से प्रभावित होता है, उतना किसी अन्य पात्र या ऐतिहासिक घटनाक्रम से नहीं।

– मृणाल पाण्डे
सम्पादक, कादम्बिनी,
18–20, कस्तूरबा गांधी मार्ग,
नई दिल्ली – 110001

लड़की

जमाइका किनकैड
उड़िया रूपांतर :
प्रसन्न कुमार होता

मेरी सास की उम्र इस वक्त 73 साल की है। उन्हें एंटिगुआ (वेस्टइंडीज द्वीप समूह) में जन्मी और इस समय अमेरिका की प्रसिद्ध पत्रिाका 'द न्यूयार्क' में लेखिका के रूप में काम करनेवाली श्रीमती जमाइका किनकैड द्वारा लिखी 'गर्ल' (लड़की) कहानी पढ़कर सुनाई। उड़िया संस्कृति के अनुरूप ऐसी ही घटनाओं को बखानने का अनुरोध किया; सोचा कि इस निश्छल वर्णन से पाठकगण एंटिगुआ संस्कृति की कहानी को यथार्थ जीवन में शिद्दत से महसूस कर सकेंगे। सासू जी थोड़ी देर चुप रहीं, फिर काफी कुछ बोलती चली गईं; बीच में रुककर बोलीं, ''क्या इन बातों को तुम सचमुच लिखोगे ? आज के बच्चे इस पर विश्वास नहीं करेंगे। युग बदल चुका है। हम कितनी बंदिशों में पले–बढ़े थे ! फिर भी इन बातों पर ठीक से विचार करें तो ये आज भी सच हैं। लड़की का जन्म आज भी कष्टमय है। न जाने यह दुनिया कब माताओं को जरा–सा सुख देना सीखेगी ! उस दिन तुम किसका लेख पढ़ रहे थे ? आइज़क सिंगर – यहूदियों का विकास उस जाति की माताओं के धर्म बचे रहने के कारण संभव हुआ है, यह बात इतने बड़े लेखक ने कही है। मुझे मेरी माँ ने कक्षा सात से पढ़ाई छुड़वा दी थी। तुम्हारे ससुर ने घर पर एक लाइब्रेरी बना रखी थी – विवाह के बाद दोपहर को जब सभी सो जाते, मैं सहज ही किताबें पढ़ जाती थी . . . ''

– प्रसन्न कुमार होता

(एक) - लड़की

सारे सफेद कपड़े सोमवार को धोना और पत्थरों की ढेरी पर रखना; रंगीन कपड़े मंगल को धोना और कपड़े सुखाने की रस्सी पर सूखने के लिए कतार बनाकर टाँग देना; धूप में खुले सिर मत टहलना; तेल में कद्दू के पकोड़े गरम करारे अच्छे बनते हैं; अपने सारे छोटे कपड़े उतारते ही भिगो देना; अपने लिए एक सुंदर ब्लाउज बनाने के लिए सूत का कपड़ा खरीदना, देखना की उसमें माँड़ न हो, वरना एक ही धुलाई में लटक जाएगा; समुद्री मछली को रात से भिगोकर रखने पर सुबह अच्छी बनेगी; क्या यह सच है कि तू हर रविवार को गिरजा स्कूल में छिछोरे गाने गाती है ? ढंग से अपना खाना खा लेना जिससे कि खाने में कोई नज़र न लगा दे; रविवार के दिन कम से कम वे बाज़ारू हाव–भाव छोड़कर अच्छे घरों की लड़कियों की तरह चलना सीख; रविवार को गिरजा स्कूल में छिछोरे गीत गाना बंद कर दे; उस बंदरगाह के किनारेवाले लफंगे लड़कों के साथ बातचीत मत करना। उन लोगों के रास्ता पूछने पर भी कोई जवाब देने की जरूरत नहीं; रास्ते में फल खाना अच्छा नहीं होता, पीछे–पीछे मक्खियाँ उड़ेंगी; –*''पर माँ, मैं तो कभी गिरजा स्कूल में ऐसे गीत नहीं*

गाती";

देख, किस तरह बटन लगाए जाते हैं, सीख; यह देख, जो बटन तूने अभी–अभी लगाया है उसका काज ऐसा होता है; किस तरह अपने ढंग के कपड़े लंबे–लंबे सिले जाते हैं उस पर ध्यान दे, जिससे तेरे बाजारू झुकाव के बावजूद तू ठीक–ठाक दिखे; पापा की खाकी शर्ट इस तरह ठीक से इस्त्री कर, सिलवटें नहीं रहेंगी; पापा की खाकी पैंट किस तरह इस्त्री करने से सिलवटें नहीं रहेंगी, देख; समझ ले, भिंडी के पौधे कैसे लगाए जाते हैं – घर से दूर लगाना, क्योंकि भिंडी में कभी–कभी चींटियाँ घर बनाती हैं; जिमिकंद लगाना तो पानी खूब डालना नहीं तो उसे खाने से गले में खुजली होगी; घर कैसे साफ किया जाता है, देख; इस तरह पूरा घर बुहारा जाता है; आँगन साफ हो गया, देख; यह देख, कोई अधिक पसंद न हो, उसके लिए ऐसे मुस्कुराना; सीख ले, जो बिल्कुल पसंद न हो उसकी ओर देखकर कैसे मुस्कुराएगी और यह है तरीका, जिसे पूरी तरह पसंद करेगी उसकी ओर देखकर मुस्कुराने का; टेबुल पर चाय–जलपान इस तरह सजाया जाता है; रात के खाने का टेबुल सजाने का ढंग भी देख ले; बड़ा आदमी घर पर खाने आए तो टेबुल इस तरह सजाना; दोपहर के खाने का टेबुल सजाना भी देख ले; सुबह नाश्ते के टेबुल की सजावट ऐसी होती है; अनजान लोगों के आगे तेरा व्यवहार इस तरह होना चाहिए; तुझे बार–बार मना किया है बाज़ारू रंग–ढंग के लिए, ऐसे तौर तरीके से अपने को रोक ताकि जिन्हें ठीक से नहीं जानती वे तुझे बाज़ारू न समझें। देख, रोज रगड़–रगड़कर नहाना, पानी न हो तो थूक से ही सही चेहरा जरूर साफ कर लेना; पैर ऊपर रखकर बैठे–बैठे कंचे मत खेलना – तू तो जानती है, तू लड़का नहीं है; इधर–उधर से लोगों के फूल मत उठा लेना – कोई बीमारी चिपक सकती है; काली चिड़िया को पत्थर मत मारना, वह काली चिड़िया नहीं भी हो सकती; देख पुडिंग कैसे बनाया जाता है; लौकी की खीर ऐसे बनाई जाती है; शिमला मिर्च ऐसे बनाई जाती है; जुकाम होने पर देख, अच्छी दवा कैसे बनाई जाती है; पेट में पाप ठहरने से पहले उसे खत्म करने के लिए कारगर दवा इस तरह बनाई जाती है; मछली ऐसे पकड़ी जाती है; जो मछली खाने की न हो, उसे ऐसे निकालकर पानी में डाल देना–ऐसा करने से विपदा नहीं आएगी; सीख ले, किस तरह मर्दों को वश में किया जाता है; जान ले, किस तरह मर्द को दबाना है; सुन, मर्द को किस तरह प्यार किया जाता है, इस तरह न हुआ तो दूसरा तरीका भी है, वह भी काम न आए, छोड़ना ही पड़े तो मन

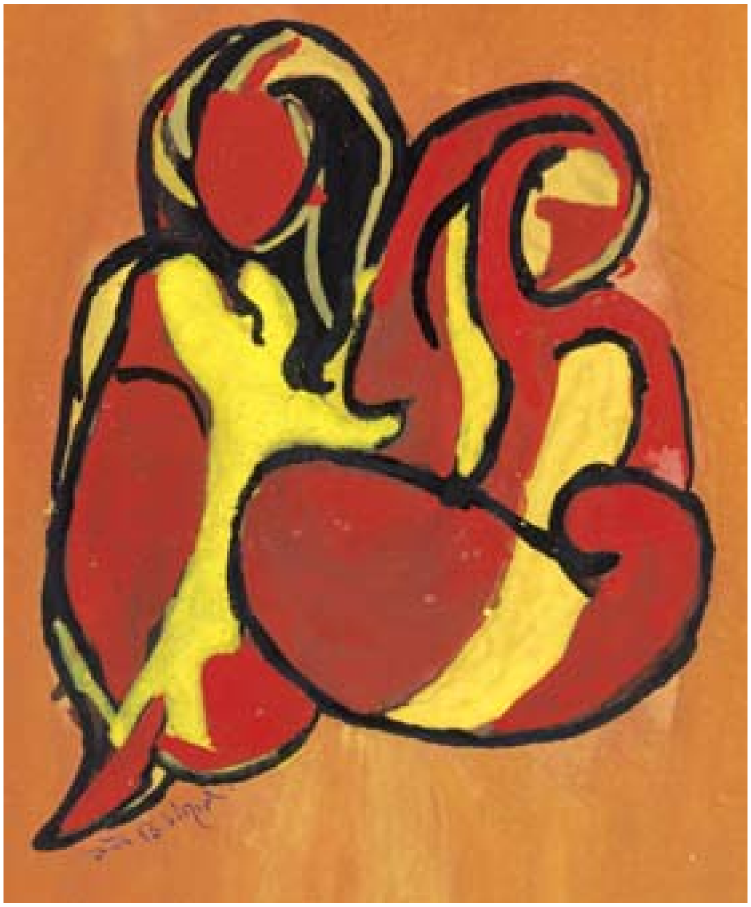

चित्रांकन : मोहिनी हिंगोरानी, कागज़ पर जलरंग

खराब करने की कोई वजह नहीं; दुनिया की ओर थूकने को जी करे तो ऐसे मुँह उठाकर थूकना, पर जल्दी खिसक आना, लौटकर तुझपर ही न गिर पड़े; सीख ले, किस तरह गुज़र–बसर करनी है; डबल रोटी खरीदते समय ताज़ी है या नहीं जानने के लिए हमेशा दबाकर देखना। *''कह तो दिया तूने माँ पर यदि दुकानदार मुझे डबल रोटी में हाथ ही न लगाने दे तो ?''*

क्या बोली, तुझे इतना कुछ समझाने– बुझाने के बाद क्या तू ऐसी औरत बनेगी कि तुझे डबलरोटी तक छूने से रोक दे दुकानदार ?

“दुनिया की ओर थूकने को जी करे तो ऐसे मुँह उठाकर थूकना, पर जल्दी खिसक आना, लौटकर तुझपर ही न गिर पड़े; सीख ले, किस तरह गुज़र-बसर करनी है; डबल रोटी खरीदते समय ताज़ी है या नहीं जानने के लिए हमेशा दबाकर देखना। ''कह तो दिया तूने माँ पर यदि दुकानदार मुझे डबल रोटी में हाथ ही न लगाने दे तो ?'' क्या बोली, तुझे इतना कुछ समझाने-बुझाने के बाद क्या तू ऐसी औरत बनेगी कि तुझे डबलरोटी तक छूने से रोक दे दुकानदार ?”

(दो) - लड़की

क्या बोली, किलास में फर्स्ट आई है तू, अब रामायण, महाभारत पढ़ना सीख ले बस; वह रंग–ढंग छोड़, इस्कूल बंद – किलास करने बड़े इस्कूल बस में जाना होगा, मर्द गाड़ी चलाएगा, मास्टरनी साथ हुई तो क्या ? तू घर योग्या हो गई, घर में मन लगाना सीख; अरे घर में रह ही गई है जब, तो यह दिन–घड़ी का हिसाब कैसा ? सुबह–सुबह किताब हाथ में उठा लेगी तो तौर–तरीके क्या सीखेगी, काम क्या सीखेगी ? देख, भाई को कैसे नाश्ता परोसेगी, वरना वह भूखा इस्कूल चला जाएगा; सीख ले, रात को इस तरह उसकी चीजें सजाकर रखना; इस तरह पल्लू बदन पर लपेटे रखना, उन मरजानी चंडियों के गुण सीखकर पल्लू उड़ाते हुए दमदमाकर चलना बंद कर; हँसा मत कर – इतना हँसना ठीक नहीं; देख, लड़कियों को मुँह पर पल्लू रखकर धीरे–धीरे हँसना चाहिए, दाँत दिखने पर अंतड़ियाँ दिख जाएंगी; अरे, खिड़की से आसमान की ओर इतना क्यों ताकती है, इस्कूल जाना बंद हो गया तो क्या बैठे–बैठे बाहर झाँकना चाहिए; देख, कैसे छाल रगड़ा जाता है, उड़द कैसे पीसी जाती है; अरे, भूख क्या है! महिलाओं को भूख लगने से यों ही थोड़ा–सा माँड़ पीकर गुज़ारा करना पड़ता है – बाप–भाई से पहले खाने की आदत छोड़ दे; थोड़े से पानी से किस तरह साफ–साफ नहाया जाता है, देख; तालाब में मर्दों का घाट करीब हो तो ठीक से देख–दाखकर गीले कपड़े किस तरह बदलते हैं, सीख; मर्द न हों तो कैसे तैरना सीखेगी, देख; संकट की घड़ी में किस तरह तैरना काम आता है, आ देख – औरतजात को बहुत–सी बातें आनी चाहिए, किस वक्त क्या चाहिए तैयार रहे; अरे, हैरान क्यों हो रही है ? बड़ी–बड़ी आँखों से क्या देख रही है – लड़कियों का इस तरह दीदे फाड़ कर देखना अच्छा नहीं होता, अनजान आदमी भ्रम में पड़ जाएगा, बाज़ारू लफंगों के चंगुल में फँस जाएगी; देख, आँखें झुकाकर भीड़ भरे रास्ते में किसी के बदन से सटे बिना किस तरह चलना होता है; सीख ले, किस तरह छाँटकर सब्जियाँ खरीदनी होती हैं – ठग्गू दुकानदार के कीड़ेवाले बैंगन कैसे छाँटे जाते हैं; सीख ले, कम पैसे में किस तरह सारी चीजें खरीदकर घर का खर्च चलाना पड़ता है; घर में किस तरह सारी चीजें जमाएगी, देख ले; रसोई घर में हाँड़ी से निकालकर कुछ मत चखना, लोग हाँड़ी चटोरी कहेंगे; बाज़ार से कोई चीज आने पर बर्तन में रखकर पल्लू से ढककर मुँह बंद करके इस तरह खाना – लड़कों की तरह मुँह खोलकर चभर–चभर मत खाना; मछली की तरकारी बनाना सीख; लड़के नहाने जाते समय तेल ले जाएँ, घर में कम पड़ जाए तो मछली का हल्दी पानी किस तरह बनाया जाता है देख; भात से माँड़ निकालना सीख; माँड़

रखकर फिर काँजी बनाना सीख; माँड़ से जल जाने पर आलू पीसकर किस तरह लेप लगाया जाता है, सीख; *क्या बोली, डाक्टर ?* अरे मर्दाना आदमी हाथ लगाएगा? मरना बेहतर है ! अपना इलाज खुद करना सीख; थोड़ी–सी तरकारी घर के मालिक के लिए अलग से रखकर सबको खुश करने के लिए किस तरह परोसा जाता है, देख; क्या बोली, सब्जी क्यों रखूँ ? अरे चाहे जितना लड़–झगड़, ठीक से खिला–पिलाकर पति को काबू में रखना सीख; तेरे पापा बिना बताए पाँच–पाँच दिनों तक कहीं चले जाएं कोई बात नहीं, जब आते हैं सारी चीजें किस तरह करीने से सजी होती हैं, देख; दोपहर को सोना छोड़कर सिलाई सीख; बगीचे से पेड़ की कच्ची डाल न तोड़कर सूखे पड़े पत्तों की डाल के जलावन से गुजारा करना सीख; थोड़ी–सी नींद आने पर तिरछी नजर से चारों ओर देखते हुए किस तरह झपकी लेकर उठा जाता है देख; ऐसे सोना, लड़कियों को चित्त सोना मना है; चार बजे गाय–बैल आकर बँधेंगे, पर उन हलवाहे लड़कों से बात किए बिना सानी करना सीख; छिछोरियों के हाव–भाव मत अपना, ऐरे–गैरे से बातें न करके कपड़े तह करना सीख; साँझ होने पर बिस्तरों पर चादर बिछाना सीख; बाई तो घर के काम करेगी, शादी के बाद तेरे मरद के बिस्तर को जैसे कोई हाथ न लगाए, यह सब मुझे देखकर सीख; *क्या बोली, पापा के बिस्तर का चादर मैं कहाँ सँवारती हूँ* भला तू क्यों देखेगी, कहती है पाँच दिनों से तो वे आए ही नहीं ? अरे इस तरह इंतज़ार करना सीख; तुलसी चौरे पर दीया–बाती किस तरह की जाती है, सीख; पूजा घर में आरती करना सीख; नहीं–नहीं, छू मत, सब अपवित्र हो जाएगा, अभी तेरी देह सही न होने के कारण मना है, कपड़े धोए, कुल्हाड़ी से पतली–पतली लकड़ियाँ काटीं – वह तो मना नहीं है, औरत को लुक–छिपकर सीखनी चाहिए, हँसिया–कुल्हाड़ी कैसे चलाई जाती हैं, न जाने कब काम आ जाए; ससुराल में कोई मददगार न होने पर भी, मरद महीने भर बाहर घूमने पर भी, पड़ोस के लोफर निगाह डालने पर भी खुद को मजबूत रखकर कैसे चला जाता है सीख; चाँद की ओर देखे बिना किस तरह रंगोली बनाई जाती है, देख; चमेली की महक जाने बगैर तरकारी बनने की महक कैसे पहचानेगी, देख; सभी खा–पीकर सो जाने के बाद बचा–खुचा खाकर इस तरह सोना सीख; नींद न आने पर, रोना आने पर, इस तरह ज़रा–सी खिड़की खोलकर चाँद को देख फूलों की बची हुई महक इस तरह सूँघकर मन ही मन गुनगुनाते हुए किस तरह सोया जाता है, सीख ले; मायका याद आने पर कुछ उनींदापन, कुछ सपने देखकर इस तरह सोना सीख; क्या बोली, बाड़ी की ओर जाने में डर लगता है, क्या मैं हमेशा बची रहूँगी तुझे लालटेन दिखाने; क्या बोली कुलच्छनी ! इतना तैयार करने के बाद, इतनी डाँट–डपट के बाद कहती है मुझे छोड़कर कहीं मत जाना; देख, लड़की का जनम दूसरे के घर के लिए होता है यह जान ले; घर बसाना, बच्चे पालना, माँ बनकर अपने आँचल की छाया में उन्हें रखना सीख; धीरज रखना सीख; मर्द तो आते–जाते रहेंगे, क्या वे किसी काम के हैं, घर तेरा है, सारी सृष्टि तेरी है उसे जिम्मेवारी से चलाना सीख।

(तीन) – शक्ति

"इड़ेरते हव्ये काम्ये चंद्रे ज्योते
अदिते सरस्वति महि विश्रुति
एतो ते अघ्न्ये ना मानि
देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रुतात्।।
(यजुर्वेद – 8,43)

'हे नारी ! हे स्तुति योग्या, रमणीया, आह्वानीया, कमनीया, आह्लाद दायिनी, ज्योतिर्मयी, अविनाशिनी, विदुषी, महती, कीर्तिमयी ! तेरे ये नाम हैं। हे अहिंसनीये ! उत्तम जीवन के लिए मुझे उत्तम कर्त्तव्य वाले कर्म बता।'

– प्रसन्न कुमार होता
सचिव, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय,
निर्माण भवन, मौलाना आज़ाद रोड,
नई दिल्ली

हिंदी रूपांतर :
डॉ. राजेंद्र प्रसाद मिश्र,
एनटीपीसी, नोएडा, 095120–2410210

अरुण कुमार

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन : जीवन और कृतित्व

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन प्रसिद्ध भाषाविद् और प्रशासनिक अधिकारी थे। भारतीय भाषाओं का विधिवत् सर्वेक्षण करने वाले वे पहले विद्वान थे। भारत के जाति–विशेष के लोक साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्वानों में भी वे अगली कतार में थे। ग्रियर्सन के पहले, महाकवि गोस्वामी तुलसीदास और विद्यापति हिन्दी के आलोचकों और विद्वानों में चर्चित नहीं थे बल्कि ग्रियर्सन के बाद भी हिन्दी के कई विद्वान विषय की दृष्टि से तुलसीदास को श्रेष्ठ मानते थे और भाषा की दृष्टि से बिहारी लाल को। ग्रियर्सन उन थोड़े विद्वानों में थे जिन्होंने बिहार की बोलियों पर पर्याप्त लिखा। मैथिली, मगही और भोजपुरी का महत्व समझा।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का जन्म काउंटी डबलिन में 7 जनवरी 1851 में हुआ था। उनके पिता ग्रियर्सन का अपना प्रेस था, जहाँ से 'एक्सप्रेस' नाम का दैनिक छपता था। ग्रियर्सन के पूर्वज जॉर्ज ग्रियर्सन और उनकी पत्नी कॉन्स्टेंशिया हिब्रू, ग्रीक, लैटिन और फ्रेंच की जानकार थीं। वे लैटिन में कविताएं भी लिखती थीं। कॉन्स्टेंशिया ग्रियर्सन की दादी थीं। उन्होंने प्रसूति विद्या (गाइनॉकोलॉजी) की शिक्षा वैन ल्यु एन से ली थी। लैटिन में उनके दो महाकाव्य (टैरेंस और टेसिटस) प्रकाशित हुए थे। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन की काव्य–कृति 'पैराडाइज़ लॉस्ट' का प्रथम संस्करण ग्रियर्सन के पूर्वज के प्रेस (1724 ई.) से ही छपा था। कॉन्स्टेंशिया (1706–33) जिस दौर में कविताएं लिख रही थीं, वह समय लैटिन भाषा और उसके साहित्य के उत्कर्ष का था। कॉन्स्टेंशिया के पति जॉर्ज ग्रियर्सन स्वयं भी बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने जब अपने प्रेस की बुनियाद रखी, तो कइयों के लिए उनकी यह उपलब्धि अति सामान्य–सी थी। इस प्रेस से लैटिन और अंग्रेजी की कई प्रसिद्ध पुस्तकें छपीं। जॉर्ज ग्रियर्सन की पत्नी कॉन्स्टेंशिया आयरलैंड के उन थोड़े बौद्धिकों में थीं जिनकी ख्याति आयरलैंड के बाहर भी थी।

जॉर्ज ग्रियर्सन का यह प्रेस पूरे इंग्लैंड में चर्चित था। राजमहल के कई सरकारी दस्तावेज इस प्रेस में छपते थे। जे.टी. गिलबर्ट के डबलिन (आयरलैंड का एक शहर) के इतिहास की पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ दि सिटी ऑफ डबलिन' में ग्रियर्सन के पूर्वजों जॉर्ज ग्रियर्सन और श्रीमती कॉन्स्टेंशिया के विवरण से यह प्रतीत होता है कि उनका परिवार आयरलैंड में काफी प्रतिष्ठित और लोकप्रिय था। उस परिवार में विद्या और लक्ष्मी दोनों का निवास था। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन के व्यक्तित्व–निर्माण में उनके परिवार की भूमिका छाया की मानिंद थी। अपने परिवार से उन्हें भाषा, साहित्य, विज्ञान आदि की पुख़्ता

> “
> वे जिस क्षेत्र में रहे वहाँ की बोलियों और उसके लोक-साहित्य को जनता के बीच रखा। तुलसीदास पर लिखा उनका लेख 'ए नोट ऑन तुलसीदास' (1898) इतना चर्चित हुआ कि इस लेख के छपने के कुछ ही वर्षों बाद हिन्दी के विद्वानों में तुलसीदास के साहित्य पर चर्चा होने लगी। उन्होंने मैथिली के महाकवि विद्यापति पर लिखा और उनके लेख छपने के बाद हिन्दी में विद्यापति पर चर्चा होने लगी। उन्होंने लोकगीतों और लोक कथाओं पर लिखा।
> ”

समझ मिली थी।

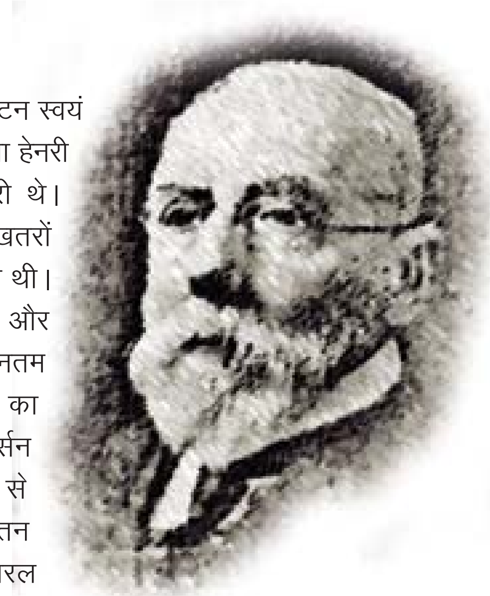

ग्रियर्सन की माँ इज़ाबेला रक्स्टन स्वयं पढ़ी–लिखी महिला थीं। उनके पिता हेनरी रक्स्टन नौसेना के बड़े अधिकारी थे। इसलिए ग्रियर्सन के परिवार में खतरों से खेलने की आदत–सी पड़ चुकी थी। खास बात थी कि उनके पिता और उनकी माता के परिवारों में न्यूनतम आवश्यकताओं में घर चलाने का रिवाज़–सा बन गया था। ग्रियर्सन स्वयं भी भारत सरकार से आवश्यकताओं के हिसाब से ही वेतन लेते थे। उनका जीवन भी बहुत सरल और आडम्बरों से मुक्त था। इंग्लैंड के अभिजात तबके का होने के बावजूद ग्रियर्सन और उनका परिवार सादगी, सौहार्द और सहयोग में विश्वास रखने की कई मिसालें कायम कर चुका था। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की प्रारंभिक शिक्षा गणित में हुई। वे गणित के अत्यंत प्रतिभाशाली छात्र थे। माँ और दादी से उन्हें लैटिन भाषा के साहित्य की जानकारी मिली। परिवार की परम्परा भी कुछ ऐसी थी जिससे अब्राहम ग्रियर्सन धीरे–धीरे प्रभावित होते गये। उनके व्यक्तित्व में गणित और साहित्य का योग आगे चलकर रचनात्मक साबित हुआ। ग्रियर्सन की रुचि वनस्पति विज्ञान में भी थी। दुनिया को जानने के कई तरीके थे और अब्राहम ग्रियर्सन के व्यक्तित्व में उन सब का अद्भुत समावेश था।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन की पत्नी लूसी एलिजाबेथ जीन कालिस बहुत रचनाशील स्त्री थीं। उन्होंने अपने घर में ही एक रविवारीय स्कूल (द मिनिस्टरिंग चिल्ड्रेंस लीग) खोला था। स्कूल में बच्चे बाइबिल से पाठ लिखते थे और चित्र बनाया करते थे। दोनों पति–पत्नी जीव–जन्तुओं से बेहद प्यार करते थे। भारत आने के बाद उन दोनों ने एक तोता पाल रखा था। उसका नाम पौली रखा था। पति–पत्नी दोनों उसे भिन्न–भिन्न प्रकार की बोलियाँ सिखाते थे। उनके लेखों में जीव जन्तुओं और वनस्पतियों का उल्लेख हुआ है। इसके पीछे प्रेरक व्यक्तित्व था, अंग्रेजी और संस्कृत के विद्वान एटकिंसन का। प्रो. रॉबर्ट एटकिंसन ट्रिनिटी कॉलेज (डबलिन, 1867) में प्रोफेसर थे। वे फ्रेंच, लैटिन, अंग्रेजी के विद्वान तो थे ही, तमिल, तेलुगू, संस्कृत के भी बहुत अच्छे जानकार थे। ग्रियर्सन को उन्होंने संस्कृत की शिक्षा दी थी। एटकिंसन ने संस्कृत व्याकरण की एक किताब भी तैयार की थी। ग्रियर्सन ने इसी से संस्कृत सीखी। एटकिंसन वनस्पति विज्ञान, वायलिन और कुश्ती में बहुत रुचि लेते थे। ग्रियर्सन भी अच्छे वायलिन वादक थे।

1871 ई. में अब्राहम ग्रियर्सन ने 'भारतीय सिविल सेवा' की परीक्षा में अट्ठाइसवाँ स्थान प्राप्त किया था। पुनः उन्होंने सिविल सेवा की परीक्षा दी और उन्हें बारहवाँ स्थान मिला (1873)। भारत के लिए विदा होते समय एटकिंसन ने उन्हें भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण का कार्य करने की सलाह दी। फिर क्या था, ग्रियर्सन भारत (1874) आये और यहाँ की भाषाओं के अध्ययन में लग गये। 1880 के आसपास से उन्होंने लिखना शुरू किया। 1886 के ओरियंटल कांग्रेस (वियना) में भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण करवाने का प्रस्ताव पास हुआ। प्रस्ताव में यह कहा गया कि कांग्रेस भारत सरकार से इस आशय का अनुरोध करे। इसी कांग्रेस सर्वेक्षण कार्य से मद्रास, बर्मा और हैदराबाद को अलग रखने की बात भी कही गयी।

इस सर्वेक्षण के लिए खास किस्म की पद्धति भी तैयार की गयी, नमूनों का संकलन, उनका अनुवाद और उनका तुलनात्मक अध्ययन इत्यादि।

ग्रियर्सन को यह काम सौंपा गया। वे 1874 से 1899 तक भारत में रहे। उनके सर्वेक्षण के काम में कइयों ने सहयोग दिया। जिस इलाके में उनकी नियुक्ति होती, वहाँ के स्थानीय अधिकारियों से वे भाषाओं के नमूनों के संकलन का काम करवाते थे। उनके इस काम में मुंशी मोती और दिलावर अंतिम समय तक उनके खास सहयोगी रहे। ग्रियर्सन ने भाषा–सर्वेक्षण के पहले कई लेख लिखे। निम्न जातियों पर उनके लेख और उनके लोक गीतों को जनता के बीच लाने का श्रेय इन्हीं को जाता है। 1885 में उनका शब्दकोश 'ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑफ दि बिहारी लैंग्वेज' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष उनकी प्रसिद्ध किताब 'बिहार पेजेंट लाइफ' प्रकाशित हुई। अपने भारत–प्रवास (1874–98) के दौरान वे बंगाल और बिहार के कई शहरों में रहे जैसे हावड़ा, सियालदह, चम्पारण, भागलपुर, गया, दरभंगा आदि। इन पच्चीस वर्षों में वे कई पदों पर रहे, सहायक मैजिस्ट्रेट, जिलाधीश, अफ़ीम एजेंट इत्यादि। वे जिस क्षेत्र में रहे वहाँ की बोलियों और उसके लोक–साहित्य को जनता के बीच रखा। तुलसीदास पर लिखा उनका लेख 'ए नोट ऑन तुलसीदास' (1898) इतना चर्चित हुआ कि इस लेख के छपने के कुछ ही वर्षों बाद हिन्दी के विद्वानों में तुलसीदास के साहित्य पर चर्चा होने लगी। उन्होंने मैथिली के महाकवि विद्यापति पर लिखा और उनके लेख छपने के बाद हिन्दी में विद्यापति पर चर्चा होने लगी। उन्होंने लोकगीतों और लोक कथाओं पर लिखा। आगे चलकर कवि रामनरेश त्रिपाठी आदि ने लोक साहित्य का संकलन किया। वे उन थोड़े ब्रिटिश अधिकारियों में थे जिन्होंने बिहार और बंगाल के दैनिक जीवन को बहुत करीब से देखा था। मानों वे उसमें रच–बस गये थे।

उनके भाषा सर्वेक्षण (ग्यारह खंडों) का काम 1928 में प्रकाशित हुआ। 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' ने उनके सम्मान में 8 मई 1928 को क्राइटीरियन रेस्तराँ में प्रीति भोज का आयोजन किया। भाषा सर्वेक्षण के सारे खंड एक साथ प्रकाशित नहीं हुए थे। जब उसके 7,800 पृष्ठ छप चुके थे, तब पत्र–पत्रिकाओं में ग्रियर्सन के कार्यों की चर्चा होने लगी। उस समय तक 6000 पृष्ठों का लेखन स्वयं ग्रियर्सन ने किया था, बाकी 1800 पृष्ठों का लेखन नार्वेजियन भाषाविद् और संस्कृत के विद्वान डॉ. स्टेन कोनो ने किया। स्टेन कोनो प्राकृत भाषा के भी विद्वान थे। उनके इस वृहत कार्य के लिए भारत की 'लिंग्विस्टिक सोसायटी' ने ग्रियर्सन को अभिनन्दन ग्रंथ (1932–34) भेंट किया था। जिस व्यक्ति ने पचास वर्षों से अधिक भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृति की सेवा की, उसके बारे में आम भारतीयों को बहुत कम जानकारी है। 8 मार्च, 1941 को ग्रियर्सन का देहावसान (कैम्बर्ले) हुआ और दो वर्षों बाद उनकी पत्नी भी चल बसीं (19 जनवरी, 1943)। उनकी मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद ऑक्सफोर्ड ने उनका वृहत् पुस्तकालय खरीद लिया। यह आश्चर्य और खेदजनक है कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी कई पांडुलिपियाँ अचानक गायब हो गयीं। किसी दुष्ट व्यक्ति के हाथों उनका अप्रकाशित साहित्य नष्ट हो गया।

– अरुण कुमार
2 के/81, हाउसिंग कॉलोनी,
बरियातू, राँची

पं. सुरेश 'नीरव'

संदर्भ : 1 मई 1857 : भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम –

संस्कृति की ध्वजवाहक थीं : वीरांगना लक्ष्मीबाई

संस्कृति क्या है और संस्कृति तथा क्रांति के बीच क्या कोई अंतर्संबंध है भी या ये दो भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियां हैं, इस संदर्भ में दार्शनिक क्रोचे का यह कथन बड़ा ही महत्वपूर्ण है, 'क्रांति आहत सामाजिक मूल्यों का सांस्कृतिक विस्फोट है जिसकी कार्यवाही उस व्यवस्था के खिलाफ होती है जो इन परंपराओं और मूल्यों के भाव संसार में अप्रिय हस्तक्षेप करती है।' इसलिए हम देखते हैं कि जब–जब विदेशी शक्तियों ने किसी भी देश पर हमला किया है तो उसका पहला निशाना संस्कृति के केन्द्र ही हुए हैं क्योंकि संस्कृति ही है जो हमेशा इस अनाहूत व्यवस्था के रास्ते में, सबसे बड़ी प्रतिरोधक शक्ति बनकर उभरती है। इसीलिए 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में भी सबसे बड़ी भूमिका उन कारतूसों की रही जिनके बारे में यह कहा गया था कि इनमें गाय और सूअर की चर्बी प्रयुक्त होती है। यानी अंग्रेजों के खिलाफ सैन्य विद्रोह तब तक नहीं हुआ जब तक कि सैनिकों की आस्थामयी मान्यताओं से खिलवाड़ नहीं किया गया। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो क्रांतिकारी ही संस्कृति की रक्षा के लिए शस्त्र उठाते हैं। यदि व्यापक संदर्भों में देखें तो मनुष्यता की उच्चतम संस्कृति है – स्वतंत्रता। संसार का प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र ही जन्मता है और स्वतंत्रता ही उसकी मूल प्रवृत्ति है, प्रकृति है और संस्कृति है। और

चित्रांकन : डॉ. सुनयना भंडारी पांडे

किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की स्वतंत्रता पर हमला उसकी संस्कृति पर ही हमला है। जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है, वह राष्ट्रीयता भी संस्कृति के कोख से ही जन्म लेती है। प्रकारांतर में यह स्पष्ट हो जाता है कि जो क्रांतिकारी है, वह अपनी संस्कृति को ही समर्पित एक संवाहक है। उसकी गतिविधियां ही संस्कृति और धर्म के बीच जो कृत्रिम दीवारें खड़ी होती हैं, उनको तोड़कर चैतन्य महाप्रभु की वाणी में, 'सबार ऊपरे मनुष्य सत्य तहार ऊपरे नाही' (मनुष्यता का सत्य सर्वोपरि है उसके ऊपर कुछ नहीं) के सार्वभौमिक सत्य का उद्घोष करती हैं। यानी जो क्रांति के मार्ग पर चल रहा है, वह मनुष्यता और संस्कृति से बद्धमूल संस्कारों के प्रति आबद्ध और प्रतिबद्ध होता है। इस संदर्भ में भारत के हम किसी भी क्रांतिकारी के जीवन की यदि गहरी पड़ताल करें तो वह व्यक्तित्व 'आदमकद संस्कृति संपन्न' व्यक्ति ही सिद्ध होता है। फिर चाहे वह महारानी लक्ष्मीबाई हों, सुभाषचंद्र बोस हों, महर्षि अरविंद हों या फिर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी। ये सभी हमारी संस्कृति के अक्षुण्ण स्रोत हैं। और संस्कृति इनके जीवन से ऊर्जा लेकर ही आगे प्रवाहमान होती है।

वीरता और करुणा की अद्भुत प्रतीक

महारानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व में भी यदि गहरे उतरकर हम देखें तो वह वीरांगना, जिसके पराक्रम के सम्मुख फिरंगी सरकार थर–थर कांपती थी, उनके भीतर एक ऐसी स्त्री से हमारा साक्षात्कार होता है जो बहादुर होने के साथ–साथ करुणा, दया और पारिवारिक निष्ठा से ओत–प्रोत थीं। कहा गया है कि जिसकी मित्र प्रशंसा करें वह श्रेष्ठ मनुष्य है मगर जिसकी प्रशंसा उसके शत्रु भी करें वह तो देवत्व से परिपूर्ण है। रानी झांसी इसका ज्वलंत उदाहरण हैं। परिवार–धर्म और राजधर्म दोनों को उन्होंने समग्र–श्रेष्ठता के साथ निभाया। पारिवारिक स्तर पर देखें तो संस्कार धानी काशी में ब्राह्मण मोरोपंत के घर जन्मी बालिका–मणिकर्णिका (मनु), झांसी की रानी लक्ष्मीबाई बनने तक, पितृभक्त रहीं और उनकी माताजी भागीरथी बाई भले ही मनु को 4 वर्ष का अकेला छोड़कर इस संसार से चली गईं हों मगर मनु ने अपने पिता का साथ आजन्म नहीं छोड़ा। वह हमेशा ही एक मार्गदर्शक के रूप में उनके साथ रहे। बहन की कसौटी पर देखें तो नानाजी पेशवा की मुंहबोली बहन 'छबीली' ने अपने से 11 वर्ष बड़े भाई को भाईदूज पर शगुन और शुभकामनाएं देने से लेकर युद्ध क्षेत्र तक पूरा–पूरा साथ दिया। एक पत्नी के रूप में, दत्तक पुत्र दामोदर राव को सत्ता से बेदखल करने के शोक में पति गंगाधर राव बीमार पड़ गये तो रात–रातभर जागकर, पति के सिराहने बैठकर एक आदर्श पत्नी की तरह उन्होंने सेवा–सुश्रूषा की और जब 21 नवम्बर 1852 को वह 18 वर्षीय लक्ष्मीबाई को अकेला छोड़कर, इस संसार से विदा हो गये तो उनकी इच्छा के अनुसार दामोदर राव को झांसी की राजगद्दी दिलाने के लिए पहले तो उन्होंने कानूनी लड़ाई लड़ी मगर जब इंग्लैंड के गवर्नर जनरल से भी न्याय नहीं मिला तो पुत्र को पीठ से बांधकर एक ममतामयी मां के रूप में, हाथ में तलवार लेकर, घोड़े पर सवार होकर युद्धभूमि में कूद पड़ीं और पुत्र का साथ और उसके हक की लड़ाई को अंतिम सांस तक नहीं छोड़ा। पारिवारिक संदर्भों से हटकर यदि सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालें तो लक्ष्मीबाई ने न केवल भारतीय महिला की उस 'अबला' छवि को तोड़ा जो हर अन्याय 'भाग्य में ऐसा ही लिखा था', जैसे थके हुए वाक्यांश के भ्रामक तथ्य को निरीह होकर सहती रहती है, अपितु उन्होंने भारतीय नारी को अपने हक की लड़ाई लड़ने का आत्मविश्वास दिया और राज सिंहासन की जिम्मेदारी संभालकर तत्कालीन समाज में प्रचलित 'पर्दा–प्रथा' के अभिशाप से स्त्रियों को मुक्ति दिलाते हुए अपने राज्य में 'महिला

सेना' का गठन कर, उन्हें सक्रिय रूप से सामाजिक सरोकारों से जोड़ दिया।

स्त्री सशक्तिकरण और धर्मनिरपेक्षता

स्त्री सशक्तिकरण की जो बातें आज हो रही हैं, इससे बड़ा उदाहरण इस दिशा में भला आज तक क्या कोई हो सकता है? धर्म निरपेक्षता के प्रति उनकी निष्ठा की अभिव्यक्ति इस बात से ही हो जाती है कि उनकी सेना में जहां भाऊ बख्शी और दीवान रघुनाथ थे वहीं गुलाम गौस खान, दोस्त खान और खुदा बख्श – जैसे मुसलमान योद्धा भी उच्च पदों पर नियुक्त थे। उनके निजी स्टाफ में भी दलित महिला काशीबाई थीं जो किसी भी तरह मोतीबाई या सुंदर– मुंदर–जैसी विश्वस्त सखियों से कम नहीं थीं। रानी की सेना में हर जाति का व्यक्ति आजादी के लिए लड़ रहा था। नेताजी सुभाषचंद्र बोस तो लक्ष्मीबाई को इस हद तक अपना आदर्श मानते थे कि आजाद हिंद फौज में महिलाओं के रेजीमेंट का नाम ही उन्होंने 'रानी झांसी रेजीमेंट' रखा था। नित्य प्रति पूजा करना, निर्धनों को अन्न एवं वस्त्र देना, पक्षियों को अनाज तथा मछलियों को स्वयं अपने हाथ से सरोवर में आटे की गोलियां बनाकर डालना, रानी के मन में बसी करुणा की ही अभिव्यक्ति थी। 'जीयो और जीने दो' की इससे बड़ी मिसाल भला और क्या हो सकती है? जो करुणा से भरा है वह स्वतः ही संस्कृति के निकट हो जाता है। भले ही उसका दूसरा रूप क्रांतिकारी का हो। अन्याय बर्दाश्त न कर शोषण के खिलाफ युद्ध करना संस्कृति का ही एक श्रेष्ठतम् मूल्य है जिसे रानी ने आजन्म बखूबी जिया। झांसी दरबार में उस समय कैप्टन स्केल पोलेटिकल एजेंट के रूप में पदस्थ थे, उन्होंने लिखा है, – 'भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म के बारे में मैं बहुत कम जानता था मगर रानी के यहां होने वाले संतों के प्रवचनों से मैं यह समझने लगा था कि अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा और दूसरों के प्रति दयाभाव, रानी के जीवन का मूलमंत्र था।'

मनुष्यता कभी नहीं त्यागी

'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के मुखपत्र के अप्रैल 1943 के अंक में सी.ए. किनकोड का एक लेख छपा था जिसमें उन्होंने मि. मार्टिन का एक पत्र उद्धृत किया था, जिसमें उन्होंने महारानी के करुणामयी व्यवहार का उल्लेख करते हुए लिखा है, '1857 के गदर के दौरान दयालु महारानी ने न केवल हमें अपने किले में शरण दी बल्कि युद्ध के दौरान भी हम यूरोपियनों को खाने–पीने की सुविधाएं दीं, साथ ही उन्होंने 100 तोड़ेदार बंदूकधारियों को भी हम लोगों की हिफाजत के लिए तैनात किया हुआ था।' उल्लेखनीय है कि मार्टिन, 1855 में जब दामोदर राव को गोद लिया गया था, तबसे झांसी में ही रह रहे थे और रानी के संपर्क में थे। वह आगे लिखते हैं, 'रानी ने हम लोगों को सुरक्षित दतिया भेजने का भी प्रस्ताव रखा था मगर लेफ्टिनेंट टेलर और कैप्टन वार्डन ने इसे स्वीकार नहीं किया। दुर्भाग्य देखिए कि हमारे ही लोगों द्वारा किले पर की गई गोलाबारी में वे मारे गये। मगर रानी ने युद्ध के मैदान में भी मनुष्यता नहीं त्यागी। शरणागत की रक्षा करना वह अपना धर्म मानती थीं।'

चित्रांकन : डॉ. सुनयना भंडारी पांडे

झांसी पराजय के बाद अंग्रेजों ने पूरे शहर में कत्लेआम किया। लगभग सारे घरों को आग में झोंक दिया गया, बाजार लूट लिये गये मगर इतिहास गवाह है कि लक्ष्मीबाई ने युद्ध के मैदान में शत्रुओं का भले ही संहार किया हो मगर निर्दोष को कभी नहीं मारा। अंग्रेजों को भी नहीं। झांसी के किले पर जब 25 मार्च 1858 को अंग्रेजों ने कब्जा किया और रानी कालपी की ओर कूच कर गईं तो किले में अंग्रेजों को एक रंगमंच तथा एक विशाल लाइब्रेरी मिली। इस ग्रंथालय में अनेक दुर्लभ पांडुलिपियां थीं, जिन्हें अंग्रेजों ने जला डाला। किले में स्थित ग्रंथालय रानी की अध्ययन प्रवृत्ति और सांस्कृतिक लगाव को ही दर्शाता है। और अंग्रेजों का निशाना भी सबसे पहले संस्कृति का केन्द्र ही बना।

वह भारत की जोन ऑफ आर्क थीं

रानी की करुणा और विशालहृदयता का एक प्रसंग और उल्लिखित करना समीचीन होगा कि कालपी के बाद जब सिंधिया को पराजित कर ग्वालियर पर रानी ने अधिकार कर लिया तो उन्हें एक मोतियों की बेशकीमती माला उपहार में दी गई, जिसका मूल्य उस समय करोड़ों रूपये आंका गया था। 18 जून 1858 को जब वह युद्ध क्षेत्र में घायल हो गईं तो उन्होंने माला तोड़कर उसके कीमती मोती अपने सैनिकों में बांटने शुरू कर दिये। आजादी के दीवानों के लिए स्वतंत्रता की देवी का यह अंतिम उपहार था। अंग्रेज इतिहासकार डब्ल्यू.सी. टॉमस ने जहां महारानी की वीरता का सम्मान करते हुए उन्हें हिंदुस्तान की 'जोन ऑफ आर्क' कहा है, वहीं सर ह्यूरोज़ जिन्होंने महारानी से युद्ध किया था, कहा, 'शत्रुदल में सबसे उत्तम मनुष्य यदि कोई है तो वह झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई हैं। वह रानी बोडेशिया की तरह वीर थीं।' जिसकी मनुष्यता और वीरता दोनों की तारीफ शत्रु करे, उससे बड़ा व्यक्तित्व भला और कौन हो सकता है? तभी तो डिस्कवरी ऑफ इंडिया में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, 'रानी लक्ष्मीबाई बहादुरों में बहादुर थीं, यह मैं ही नहीं उन अंग्रेजों ने भी कहा है, जिन्होंने उनके साथ युद्ध किया था।'

सच! रानी लक्ष्मीबाई मनुष्यता और वीरता का एक ऐसा अप्रतिम उदाहरण हैं जो हमारी संस्कृति की ध्वजवाहक बनकर हमेशा–हमेशा के लिए हमारी प्रेरणा का स्रोत बन गईं हैं और उनका जीवन–दर्शन इस तथ्य को भी रेखांकित करता है कि जो व्यक्ति अपनी जड़ों और अपनी संस्कृति से नहीं जुड़ा होता, वह चाहे कुछ भी बन जाए मगर क्रांतिकारी तो कभी बन ही नहीं सकता।

– पं. सुरेश नीरव
'कादम्बिनी' कार्यालय
हिंदुस्तान टाइम्स भवन
कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली

प्रो० कृष्णकुमार गोस्वामी

भारतीय संस्कृति : सामासिक आयाम

"वास्तव में संस्कृति का संबंध संस्कार से है। इसका अर्थ हुआ साफ करना, स्वच्छ रखना, परिष्करण करना या उत्तम बनाना। जो स्थिति हमें किसी वस्तु या व्यवहार में जीवनसिद्धि के निकट पहुँचाती है, वही श्रेष्ठ या उत्तम कहलाती है। इस कल्याण की साधना ही संस्कृति है। हमारे जीवन के आचार-विचार के परिष्कार का विधान ही संस्कृति है। लोक जीवन के नाना संबंधों में औचित्य का पालन ही संस्कृति है। इसके अंतर्गत आत्मशोधन या आत्मसंयम भी आते हैं। इस प्रकार संस्कृति में विद्वता, पांडित्य और कौशल तीनों आते हैं किंतु केवल इनसे संस्कृति नहीं बनती।"

संस्कृति शब्द का प्रचलन आजकल बहुत है। यह शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के अर्थ में लिया जाता है किंतु इसका अर्थ बहुत व्यापक और बहुमुखी है। प्राचीन काल में संस्कृति का प्रयोग अधिक नहीं होता था। उससे संबंधित शब्द 'संस्कार' का अधिक प्रयोग था। जैसे–सोलह संस्कार। संस्कारप्राप्त भाषा संस्कृत है और विद्या के संस्कार से संपन्न व्यक्ति को सुसंस्कृत कहा जाता है। सुसंस्कृत व्यक्ति की गुण–संपत्ति है संस्कृति।

प्रश्न उठता है कि क्या विद्वता संस्कृति है? वस्तुतः संस्कृति विद्वता नहीं है। विद्वता तो विद्या कुसुम पराग है। वह जीवन के विविध तत्वों तथा विचारों और धर्मों के विभिन्न मूल्यों का एक सरस समन्वय है। संस्कृति केवल पांडित्य भी नहीं है। दसों भाषाओं का ज्ञाता कोई भी व्यक्ति हो सकता है। सैकड़ों ग्रंथों का अध्येता और व्याकरण में पारंगत भी हो सकता है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसे सुसंस्कृत कहा जाए। इस प्रकार संस्कृति न तो कोरा ज्ञान है और न ही वस्तुविज्ञान। इसके अतिरिक्त संगीत, साहित्य, ललित कलाएँ आदि भी मात्र संस्कृति नहीं कहलातीं।

तब पुनः प्रश्न उठता है कि संस्कृति है क्या? वास्तव में संस्कृति का संबंध संस्कार से है। इसका अर्थ हुआ साफ करना, स्वच्छ रखना, परिष्करण करना या उत्तम बनाना। जो स्थिति हमें किसी वस्तु या व्यवहार में जीवन– सिद्धि के निकट पहुँचाती है, वही श्रेष्ठ या उत्तम कहलाती है। इस कल्याण की साधना ही संस्कृति है। हमारे जीवन के आचार–विचार के परिष्कार का विधान ही संस्कृति है। लोक जीवन के नाना संबंधों में औचित्य का पालन ही संस्कृति है। इसके अंतर्गत आत्मशोधन या आत्म–संयम भी आते हैं। इस प्रकार संस्कृति में विद्वता, पांडित्य और कौशल तीनों आते हैं किंतु केवल इनसे संस्कृति नहीं बनती। इस प्रकार संस्कृति के अंतर्गत जहाँ आंतरिक आचार– व्यवहार का स्थान है वहाँ नाना ज्ञान–विज्ञानों का भी उससे निकट का संबंध है।

संस्कृति और सभ्यता दोनों का अर्थ समान है। वास्तव में ये दो पहलू हैं जो आपस में जुड़े हुए हैं। जीवन का परिष्कार संस्कृति है तो उस परिष्कार की ओर उन्मुख करती है सभ्यता। सुख–सुविधा और संपत्ति से परिपूर्ण बहिरंग परिष्कार सभ्यता है। इस प्रकार संस्कृति का जीवन के आंतरिक पक्ष से संबंध है तो सभ्यता का जीवन के बाह्य पक्ष से।

प्राचीन काल से लेकर अब तक न जाने कितनी संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ आईं।

काल के विकराल गर्भ में समा गईं। कई संस्कृतियाँ उभरीं, फली–फूलीं और उन्नति के शिखर पर पहुँच गईं। इन में साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान आदि का विकास हुआ। अनेक दार्शनिक, चिंतक, विचारक, कलाकार और वैज्ञानिक पैदा हुए। महान और प्रतापी सम्राट तथा वीर योद्धा उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी शक्ति से अपने साम्राज्य का विस्तार किया। बड़े–बड़े महल और भवन बनवाए, अपने देवी–देवताओं के नाम पर विशाल मंदिर स्थापित किए। इन संस्कृतियों का काफी दिन बोलबाला रहा, अब उनकी मात्र कहानी इमारतों और स्मारकों में सिमट कर रह गई है। कुछ खंडहर पर्यटकों के लिए दर्शनीय हो गए हैं। प्राचीन सिक्कों, मूर्तियों, शिलालेखों आदि के रूप में कुछ चिह्न संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। शेष का न पुराना धर्म रहा, न उनकी परंपरा रही और न ही उनके देवी–देवता। अब केवल उनकी स्मृति शेष रह गई है।

इन संस्कृतियों में मिस्र देश की संस्कृति सात–आठ हज़ार वर्ष पुरानी थी। इस संस्कृति की स्थापत्य कला के अद्भुत चिह्न आज भी आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। प्राचीन बेबिलोनियन संस्कृति और एसीरियन संस्कृति ईराक के रेगिस्तान में समा गई है। प्राचीन ईरानी संस्कृति के अब मात्र अवशेष रह गए हैं जो अपनी थोड़ी बहुत गाथा बता पाते हैं।

भारतीय संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति है जो आज तक अपनी अविरल धारा को बचाती हुई चली आ रही है। यह अन्य प्राचीन संस्कृतियों से भिन्न एक अनोखी संस्कृति है। इसकी प्राचीनता के बारे में बताना कठिन है। अधिकतर विद्वान इसे सात–आठ हज़ार वर्ष पुरानी मानते हैं। खोज करने पर भारतीय संस्कृति का विकसित रूप सबसे पहले सिंधु–सरस्वती के क्षेत्र में पाया गया है। यह क्षेत्र सिंधु नदी के बीच का इलाका है। इसे सिंधु सभ्यता के नाम से अभिहित किया गया किंतु वास्तव में वह और कुछ नहीं, भारतीय सभ्यता ही है। सिंध के जिस स्थान पर खुदाई की गई और जहाँ इस सभ्यता का विकास हुआ, उसका नाम 'मोहनजोदड़ो' है। वहाँ एक टीला खोदने से एक समूचे नगर के भग्नावशेष या खंडहर मिले। अनेक दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त हुईं जिनसे पता चला कि उस प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता कितनी समृद्ध और उन्नत थी।

सिंधु सभ्यता को वैदिक सभ्यता भी कहते हैं, हालांकि भारतीय संस्कृति का विकास आज से कितने हज़ारों वर्ष पहले हुआ था, वेदों की रचना के पूर्व भारतीय संस्कृति कई संक्रांतियों से गुजरी होगी, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों के मतानुसार जिस युग में भारत के मूल निवासी अरण्य सभ्यता से गुजर रहे थे, उसी युग में भारत में बाहर से कई जातियाँ आई थीं। उन में परस्पर संघर्ष भी हुआ। भारत की जलवायु, उर्वरा भूमि और जीवनयापन के अपेक्षाकृत सुगम साधनों के कारण वे वहीं बस गए और आपस में घुलमिल गए। किंतु इन प्रश्नों का उत्तर आज तक नहीं मिला कि भारत में कौन–सी जातियाँ पहले आईं, द्रविड़ और आर्यों का भारत में आगमन कब और किन दिशाओं से हुआ। द्रविड़ और आर्य बाहर से आए या यहाँ के मूल निवासी थे? यह तो निश्चित है कि इस भूभाग में समय–समय पर विभिन्न जातियाँ आती रहीं। इन विभिन्न जातियों के आगमन के कारण भारतीय संस्कृति समन्वय की भावना से निहित रही। इन जातियों के परस्पर संपर्क से सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ और जीवन पद्धति का पुनर्निर्माण हुआ।

भारतीय संस्कृति के विकास के स्पष्ट संकेत हमें वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं। लेकिन प्रश्न उठता है कि इस संस्कृति का उत्स स्थान सप्तसिंधु के उत्तरी मैदान को मानें या दक्षिण के पठारों को। इस विषय में भारत का भूगोल हमारी सहायता कर सकता है। भारत के मध्य भाग में स्थित विंध्य पर्वत ने शताब्दियों तक उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मानव समाज को अलग–अलग सांस्कृतिक चेतना के विकास का अवसर प्रदान किया। पुराणों के अनुसार यह सुमेरु पर्वत है जिस पर आज से दस लाख वर्ष पूर्व एक उन्नत मानव सभ्यता का निवास था। बाद में महाप्लावन के उपरांत यह सभ्यता नष्ट हो गई। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के विकास का मूल उत्स दक्षिण के पठारी भाग को मानना उचित होगा जहाँ अनेक जनजातियों या आदिम जातियों का निवास रहा है। दक्षिण पठारों में पत्थरों के अस्त्र भी मिले हैं जिनके सहारे पूर्व पाषाण युग, पाषाण युग तथा उत्तर पाषाण युग की अवधारणा रखी गई। इस प्रकार अन्य संस्कृतियों की भाँति भारतीय संस्कृति का विकास भी उन सोपानों से हुआ जिनमें विश्व की प्रत्येक मानव सभ्यता को गुजरना पड़ा है। इन सोपानों का क्रमबद्ध इतिहास अभी तक लिखा नहीं जा सका।

आदिम समाज कृषि से अनभिज्ञ था। जंगली पशुओं

CMYK # 80
CMYK

का शिकार और कंदमूल उसके भोज्य पदार्थ थे। वह भवन निर्माण भी सीख नहीं पाया था। यह समाज पूर्ण रूप से साम्यवादी था। इसके किसी भी सदस्य के पास कोई चल या अचल संपत्ति नहीं थी। यह समाज पूर्ण मातृसत्तात्मक था जिसमें माता ही परिवार का केन्द्र रहती थी। इस काल में नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं हो पाई थी।

पाषाण युग में मानव ने शिकार तथा आत्मरक्षा के लिए पत्थर के औज़ार तथा अस्त्र बनाना सीख लिया था। अब वह आग जलाना भी सीख गया था, इसलिए अब वह माँस पकाने लगा। वह इस के लिए अग्नि का उपकार स्वीकार करने लगा और अपने पके हुए माँस से कुछ भाग निकाल कर अग्नि देव को अर्पित करने लगा। आगे चल कर जब उसे कृषि करना आ गया तो नई फसल मिलने पर वह आग जला कर उत्सव मनाने लगा। फसल का कुछ अंश अग्नि देव को समर्पित करने लगा। यहीं से यज्ञों की प्रथा आरंभ हुई।

पशु पालन और कृषि के आरंभिक विकास ने सामाजिक जीवन में एक क्रांति ला दी। नारी के स्थान पर पुरुष की सत्ता प्रधान होने लगी। 'गोत्र' शब्द का अर्थ गौ की रक्षा करने वाला है जो पितृसत्तात्मक समाज की सूचना देता है। अब संतान पिता के गोत्र से जानी जाने लगी और कुमारियों को स्वयंवर द्वारा अपने पति चुनने का अधिकार दिया गया। गणों की संरचना कुछ गोत्रों से मिल कर होती थी। पंचजना, नाग, वानर, असुर, गरुड़, किन्नर, यक्ष आदि नाम विभिन्न गणों की कुछ विशेषताओं तथा कुछ पशु–पक्षियों के प्रति पूजा की भावना के आधार पर रखे गए थे। जब गणतंत्रात्मक समाज की स्थापना हुई तब उनका प्रमुख अर्थात् गणपति भी सम्मान पाने लगा। संस्कृति का यह युग वेदों की रचना का काल है। गणतंत्रों का विकास अब राजतंत्रों में होने लगा। इसी कारण ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय वर्ग का उद्‌भव हुआ। कृषि तथा पशु पालन का भार संभालने वाले वैश्य वर्ग कहलाने लगे।

उत्तर पाषाण काल में धातुओं का आविष्कार होने लगा। बढ़ई, सुनार, चर्मकार आदि शिल्पी समाज के अभिन्न और सम्मानित अंग माने जाने लगे। ब्राह्मणों को सांस्कृतिक सुरक्षा और समृद्धि का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यज्ञों का विधान सौंपने से इन्हें समाज का सर्वोपरि स्थान मिला।

सिंधु घाटी के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा नामक स्थानों की खुदाई से यह अनुमान लगाया गया है कि उस समय नागरिक सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। ये नगर 3000 ई.पू. से कम प्राचीन नहीं माने जाते। इन नगरों के मकान कई मंजिलों के होते थे तथा बड़े–बड़े और बढ़िया पकी हुई ईंटों के मजबूत बने होते हैं। सड़कों के दोनों किनारों पर नालियाँ हैं, वर्षा के जल निकास की योजना और नालियों को स्वच्छ रखने के लिए मल कुंडों की व्यवस्था के आगे आधुनिक भारत की ऐसी व्यवस्था फीकी पड़ जाती है।

वास्तव में सिंधु घाटी की संस्कृति कांस्य युग की मानी जाती है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो औज़ार मिले हैं वे काँसे के हैं। ऐसा अनुमान है कि 3000 ई.पू. ईरान की सभ्यता भी उतनी ही समृद्ध थी। फारस की खाड़ी के समुद्री मार्ग से भारत के साथ इसका व्यापार चलता था। इस से सिद्ध होता है कि 5000 वर्ष पूर्व भारत का नाविक संचार काफी मजबूत था।

सिंधु घाटी से धर्म का आरंभिक रूप मिलता है। पुरुष देवताओं में एक मोहर पर तीन मुँह वाली एक नग्न आकृति चौकी पर पद्मासन लगाए बैठी है। इसके चारों ओर हाथी, बैल हैं और चौकी के नीचे हिरण अंकित है। यह मूर्ति शिव के पशुपति रूप की समझी जाती है। इसके अतिरिक्त शिवलिंग पूजा का प्रारंभिक चरण था। मातृदेवी की उपासना के लक्षण भी मिलते हैं। मोहरों पर अंकित पीपल और नीम के वृक्षों से यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समय किसी न किसी रूप में वृक्षों की पूजा होती थी। वास्तव में सिंधु घाटी की सभ्यता को अच्छी तरह से समझने में बड़ी कठिनाई यह है कि उसकी मोहरों, सिक्कों और बर्तनों पर अभिलेखों की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी। यदि ये पढ़ी जा सकती तो तत्कालीन समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संरचना की झांकी मिल जाती।

भारतीय संस्कृति का आरंभ वेदों से भी पहले हो चुका था। प्राचीन भारत का सामाजिक और सांस्कृतिक स्वरूप वेदों में सुरक्षित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद– ये चारों वेद हमारी संस्कृति के मूल आधार हैं। वेदों के मंत्रों की व्याख्या करने के लिए ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई। वेदों का सही अर्थ जानने के लिए सहायक शास्त्रों के रूप में 'वेदांग' लिखे गए। वेदांग छः हैं – शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प।

इस काल को वैदिक काल कहते हैं।

इस काल में समाज की रचना का आधार वर्ण व्यवस्था थी। यह व्यवस्था चार वर्णों में विभाजित थी–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित नहीं थी, कर्म पर आधारित थी। व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया था–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। वैदिक काल में राजतंत्र की पद्धति थी किंतु कहीं–कहीं गणतंत्र की शासक पद्धति भी प्रचलित थी। गणतंत्र के अंतर्गत कुछ लोगों का वर्ग शासक चुनता था। कर्म को ही धर्म माना जाता था। कर्म आत्मा के संस्कार के लिए आवश्यक है। यज्ञ, दान, तपस्या, सेवा आदि कर्म व्यक्ति और समाज की रक्षा करते हैं।

वैदिक युग को यदि भारतीय संस्कृति का प्रथम चरण माना जाए तो रामायण काल को संस्कृति के विकास का द्वितीय चरण और महाभारत काल को तृतीय चरण। रामायण और महाभारत में 'सत्यमेव जयते' का उद्देश्य निहित है जिसमें धर्म की विजय और अधर्म की पराजय का चित्रण है। वाल्मीकि रामायण में आर्य संस्कृति की आदर्श जीवन पद्धति का वर्णन मिलता है जिसे राम की कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। यह मानव संस्कृति के विकास के लिए एक प्रकाश स्तंभ है। इस में उत्तरापथ और दक्षिणापथ की संस्कृतियों का समन्वय मिलता है।

महाभारत में भारतीय जीवन के सामाजिक गठन, जातीय आदर्श, धर्म, नीति और आचार–विचार का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। इसमें कृष्ण ने युद्ध क्षेत्र में भयत्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को निष्काम भाव से कर्तव्य के पालन का जो उपदेश दिया था वह भगवद्गीता के नाम से विश्वविख्यात है। इसमें भीष्म पितामह के माध्यम से आदर्श राजनीति का सार कहा गया है। विभिन्न जातियों के अंतर्विवाह, धार्मिक विश्वासों और जीवन पद्धतियों के आत्मीकरण और परिष्कार से सांस्कृतिक समन्वय का जो प्रमाण मिलता है वह महाभारत काल में पूरी तरह से मिलता है। शांतनु और सत्यवती का विवाह, भीम का हिडिंबा से विवाह और अर्जुन का नागकन्या उलूपी से विवाह विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय का परिचायक है।

पुराण युग भारतीय संस्कृति का चौथा चरण है जिसका समय दूसरी शताब्दी ई० है। इस युग में कुषाण, यवन, हूणों आदि का आक्रमण भारत पर हुआ। इससे नई सांस्कृतिक चेतना तो पैदा हुई किंतु साथ में अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों का भी सूत्रपात हुआ। इस काल में ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कंध, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्मांड अठारह पुराणों की रचना हुई। अवतारवाद की कल्पना का विकास हुआ। इन अवतारों में राम और कृष्ण लोकनायक के रूप में उभरे। इसके साथ ही ब्रह्म की सृजन, पालन और संहार संबंधी तीन शक्तियों की परिकल्पना ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में सामने आई। इन तीनों देवताओं के अतिरिक्त सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना भी होने लगी। कर्म, श्राद्ध, उपवास, तीर्थ और मूर्ति पूजा का व्यापक प्रचार हुआ। इस प्रकार पुराणकालीन संस्कृति मूलतः नैतिकतावादी संस्कृति है। बाद में बौद्ध और जैन मतों के प्रभाव से वैदिक धर्म प्रभावहीन होने लगा। दूसरी ओर पुराणकारों ने बुद्ध को अपने अवतारों की सूची में रख दिया जिससे बौद्ध धर्म को आघात पहुँचा।

गुप्तवंश के दो सौ वर्षों के राज्यकाल में भारतीय संस्कृति उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। साहित्य, धर्म, ललितकला, स्थापत्यकला, वाणिज्य आदि के विकास में यह युग महत्वपूर्ण था। गुप्तकालीन ललित कलाओं में तत्कालीन भौतिक समृद्धि के संकेत मिलते हैं। इस काल में उच्च कोटि का साहित्य सृजन हुआ। पाणिनि ने संस्कृत भाषा का परिष्कार किया और बाद में कालिदास ने उसे सौन्दर्य प्रदान किया। गुप्तकाल में संस्कृत में साहित्य की जितनी रचना हुई उतनी शायद ही किसी अन्य काल में हुई हो। विज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। गणित में दशमलव प्रणाली का सूत्रपात हुआ। तक्षशिला और नालंदा जैसे विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों की शिक्षा उच्च कोटि की थी। इसलिए यह काल संस्कृति का श्रेष्ठ युग कहलाता है।

मौर्यकाल में भारतीय कला का और अधिक विकास हुआ। अशोक और मौर्यकाल की कला के भग्नावशेष स्तूप, स्तंभ, गुफाओं तथा राजप्रासाद के रूप में मिलते हैं। उनके अवशेष दिल्ली, सारनाथ, चंपारन, साँची आदि स्थानों पर मिले हैं। इनमें भारत के प्राचीन विज्ञान और तकनीकी जानकारी का अच्छा परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त सातवाहन युग और कुषाण युग में भी

ललित कलाओं का विकास अबाध गति से चलता रहा। इसी युग में भारतीय और यूनानी कला पद्धतियों के समन्वय से अनेक शैलियों का विकास हुआ। इन में साँची शैली, मथुरा शैली, गांधार शैली, दाक्षिणमत्य शैली आदि पूर्ण रूप से मिलते हैं। इन शैलियों में दाक्षिणमत्य शैली का विशेष स्थान है। महाबलिपुरम, एलोरा तथा एलिफेंटा इस युग के प्रधान कला केन्द्र हैं। वास्तव में पूर्व मध्यकाल में भारत का सांस्कृतिक नेतृत्व और संरक्षण दक्षिण भारत करता था। तमिलनाडु में पल्लव, चोल और पांड्यवंश के राजाओं का शासन था। इन राजाओं के शासन में वास्तुकला और शिल्पकला को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कुंभकोणम, मदुरै, चिदंबरम्, श्रीरंगम, कांचीपुरम, रामेश्वरम् आदि स्थानों में ऐसे मंदिर मिलते हैं जो उस युग की कला के प्रमाण हैं। इसी प्रकार कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, केरल आदि की कलाओं के दर्शन होते हैं। भारत के पूर्व में उड़ीसा के भुवनेश्वर में कोणार्क का सूर्य मंदिर अपना विशेष स्थान रखता है। यह मंदिर एक रथ के आकार का है जो विराट पहियों पर स्थित है। इस प्रकार भारत की विभिन्न कलाओं का भारतीय संस्कृति में विशेष स्थान है।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति अपनी विभिन्नता के लिए प्रसिद्ध है। इसका इतिहास एक हज़ार वर्ष से अधिक पुराना माना जाता है। सम्राट हर्षवर्धन के बाद विदेशी आक्रमणों का तांता लग गया। अतः इस काल में भारतीय संस्कृति पुनर्निर्माण का प्रयास तो करती रही किंतु कोई अद्‌भुत विकास नहीं हो पाया। इस काल में भारतीय भाषाओं का अधिक से अधिक विकास हुआ। इस काल में जब मुगल साम्राज्य स्थापित हुआ तो साहित्य के साथ–साथ संगीत का भी पुनरुद्धार हुआ। इस्लाम धर्म ने भारतीय संस्कृति को भी प्रभावित किया। स्थापत्य कला तथा चित्र कला में इस प्रभाव की झलक पूर्णतया दिखाई देती है। आगरा का ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, फतेहपुर सीकरी का बुलंद दरवाजा, जामा मस्जिद मुगल स्थापत्य कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इसी काल में भक्ति आन्दोलन का उदय हुआ जो दक्षिण भारत से चलता हुआ उत्तर भारत में विकसित हुआ। तुलसीदास ने राम की कथा को लोक जीवन का अंग बना कर रामचरित मानस की रचना की। तमिलनाडु में कंब रामायण, बंगाल में कृतिवास रामायण और केरल में एषुतच्छन की रामायण ने भारतीय मानस पर अपना प्रभाव डाला।

आधुनिक युग में 18वीं शताब्दी के प्रारंभ का काल धार्मिक सांस्कृतिक दृष्टि से पुनर्जागरण का काल माना जाता है। इस पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राम मोहन राय थे। स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के लिए अथक प्रयास किया। इसमें आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का विशेष योगदान रहा है।

भारतीय संस्कृति न केवल भारत तक सीमित रही, उसका प्रचार–प्रसार दूर–दूर देशों में और विशेषकर एशिया के अनेक देशों में हुआ। इसका प्रभाव आज भी इन देशों में देखा जा सकता है। श्रीलंका, तिब्बत, चीन, इंडोनेशिया, जावा, मलेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड में भारतीय संस्कृति की गहरी छाप मिलती है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है जिसमें भारत की सभी उपसंस्कृतियों का समन्वय है। यही इसके सामासिक आयाम हैं। यह एक ऐसे इन्द्रधनुष के समान है जिसमें विभिन्न जातियों, धर्मों और जीवन पद्धतियों के संगम का सौन्दर्य निखर कर आता है। इसने अपने भीतर आर्य, द्रविड़, नाग, यक्ष, किन्नर, शक, हूण, आभीर, गुर्जर, जाट, पारसी, पठान, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न संस्कृतियों को समाहित कर लिया है। इन संस्कृतियों ने अपने व्यष्टिगत स्वरूप को छोड़ कर समष्टिगत स्वरूप के साथ भारतीय संस्कृति को एक अलग रूप प्रदान किया है। इसलिए भारत मात्र भौगोलिक संकल्पना नहीं है वरन् एक मूल्यविज्ञानात्मक संकल्पना है जिसमें विभिन्न परंपराओं, जीवन पद्धतियों और विचारधाराओं का संगम है।

मूल्यं वै भारतं न स्याद, देशमात्रम् न भारतम्।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में वह आंतरिक शक्ति है जिससे वह सर्वधर्म सहिष्णु बनी है। यही कारण है कि उसे कितने ही विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा, फिर भी वह अक्षुण्ण बनी रही। यह सदैव वेदविहित तथा लोकसम्मत रही है जो अपने–आप में सार–संग्रही के रूप में बनी रही है और बनी रहेगी।

– प्रो० कृष्णकुमार गोस्वामी
1764, औट्रम लाइन्स,
डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009

डॉ० सुधाकर शर्मा

फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी और भारत

किसी भी सभ्य समाज की जड़ें उसकी सृजनात्मकता में निहित होती हैं। ललित कलाएँ उस समाज की सृजनात्मक अभिव्यक्ति, उसकी सामाजिक आवश्यकताओं तथा मानवीय आकांक्षाओं का व्यक्त रूप होती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में ललित कला अकादेमी न केवल अपनी गौरवशाली परम्पराओं के परिरक्षण के प्रति प्रतिबद्ध है, वरन् वह इस दिशा में भी प्रयत्नशील है कि कला के प्रति भारतीय जनता के मानक और आस्वाद में भी परिष्कार ला सके। अकादेमी ने 2005 के पूरे वर्ष में अपने क्षितिज का विस्तार किया है तथा समकालीन भारतीय कला के विकास के साथ–साथ अपनी दृष्टि भी रूपान्तरित की है। अकादेमी के प्रयत्नों और कलाकारों की सूझबूझ से भूमण्डलीकरण के व्यूह से उपजी चुनौतियों, दबावों और नाना तरह की बाध्यताओं से जूझ रही समकालीन कला का परिदृश्य इस स्तर पर आश्वस्तकारी है कि वह अब तक अक्षत बची हुई है।

ललित कला अकादेमी के स्वर्णजयन्ती समारोहों से सम्बन्धित आयोजन, कला को नया परिप्रेक्ष्य देने और उसे नये शिखर पर प्रतिष्ठित करने की कारगर पहल थे। ग्यारहवीं त्रैवार्षिकी–भारत का आयोजन अपने स्वर्णजयन्ती वर्ष में ललित कला अकादेमी का विशेष प्रस्थान था। त्रैवार्षिकी–भारत अकादेमी का त्रैवार्षिक आयोजन है जिसमें समकालीन विश्वकला के नवीनतम कला–कार्यों और कला उद्यमों को एक मंच पर लाने का प्रयास होता है। फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी (इटली) ग्यारहवीं त्रैवार्षिकी–भारत का ही एक परिणाम थी। इन दोनों आयोजनों को एक युग्म में देखते हुए ग्यारहवीं–त्रैवार्षिकी–भारत से सम्बद्ध प्रतिनिधिमण्डल को फ्लोरेन्स आमन्त्रित किया गया जिसमें मेरे सहित प्रो. आर. बी. भास्करन, प्रो. महेन्द्र पाण्ड्या, प्रो. मनु पारीख, श्रीमती सुषमा बहल तथा श्री हेरी डोनो शामिल थे।

> **“ आज के समय में अन्तर्राष्ट्रीय कला समुदाय में आपसी सम्वाद, सहकार और अपने विकास के प्रति सतर्कता का वातावरण बन रहा है। ऐसे सहकारी और साझा सम्पर्कों से सृजनात्मक आदान–प्रदान के द्वारा विश्व स्तर पर कला–प्रोन्नति के अवसर बढ़े हैं। ”**

ज्ञातव्य है कि आज के समय में अन्तर्राष्ट्रीय कला समुदाय में आपसी सम्वाद, सहकार और अपने विकास के प्रति सतर्कता का वातावरण बन रहा है। ऐसे सहकारी और साझा सम्पर्कों से सृजनात्मक आदान–प्रदान के द्वारा विश्व स्तर पर कला–प्रोन्नति के अवसर बढ़े हैं।

इसी श्रृंखला में समकालीन विश्वकला की पाँचवीं फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी का आयोजन फ्लोरेन्स स्थित ऐतिहासिक फोर्तेज्जा दा बास्सो फिरेन्जे में 3 से 11 दिसम्बर, 2005 तक हुआ। इस कला द्वैवार्षिकी में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्यात अमेरिकी कलाकारों : श्री क्रिस्टो और जीयन्ने क्लाउड को प्रतिष्ठित 'लॉरेन्जो इल मैग्नीफिको' सम्मान से सम्मानित किया गया। इसी सम्मान से श्री रिचर्ड अनुस्कीएविज को भी सम्मानित किया गया। सुपरिचित भारतीय कलाकार श्री यूसुफ अरक्कल को इसी आयोजन में स्वर्ण पदक दिया गया।

त्रैवार्षिकी–भारत के प्रतिनिधि मण्डल ने फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी के अवसर पर ललित कला अकादेमी, ग्यारहवीं त्रैवार्षिकी–भारत और समकालीन भारतीय कला पर तीन चरणों में एक गोलमेज संगोष्ठी की। अकादेमी के अध्यक्ष, प्रो.आर.बी. भास्करन फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी के निर्णायक मण्डल के सदस्य भी रहे, जो अकादेमी और देश दोनों के लिए सम्मान की बात है।

फ्लोरेन्स द्वैवार्षिकी में अपना वक्तव्य देते अन्तर्राष्ट्रीय कलाविद् श्री जॉन.टी. स्पाइक

यह देख कर सुखद सन्तोष हुआ कि फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी आह्लादकारी कला मंच में रूपान्तरित होकर कलाकारों, प्रतिभागियों और कलाप्रेमियों को एक साथ मन्त्रमुग्ध कर सकी। इस द्वैवार्षिकी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक पारस्परिकता बढ़ाने, कलाकारों को नये माध्यमों और तकनीकों के जरिये अधिक सार्थक कला–कार्य करने की प्रेरणा और अवसर देने के साथ–साथ मतभेदों और दुराग्रहों से निकलकर आज की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्कृतियों को समझने का आधार तैयार किया। यह आयोजन कलाकारों को अपनी सीमाओं को तोड़कर व्यापक दर्शकों तक पहुँचाने की सम्भावनाओं की खोज में भी सहायक हो सका जिससे बहुविध सम्पर्क का विस्तृत तानाबाना निर्मित हो पाए। इस अन्यतम आयोजन के लिये कला इतिहासकार और आलोचक तथा इस द्वैवार्षिकी के निर्देशक श्री जॉन टी. स्पाइक की अन्यतम भूमिका रही है जो ग्यारहवीं त्रैवार्षिकी–भारत के एक निर्णायक के रूप में भारत आए थे, उन्होंने भारत और एशिया के विभिन्न भागों के कलाकारों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रवेश का अवसर दिया। बहुत से व्यक्तियों, संस्थाओं और प्रयत्नों से ऐसे अद्‌भुत आयोजन हो पाते हैं। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ललित कला अकादेमी और भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का सम्मान किया गया, उसके महत्व को स्वीकार किया गया तथा हमें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में आधुनिक कला में अपने अवदान, अनुभव और अवधारणाओं को व्यक्त करने का अवसर दिया गया। समकालीन भारतीय कला के कलाकारों और कला प्रेमियों के लिये यह सुखद सूचना है कि भारतीय कला के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार का

> **“ इन देशों के समानान्तर भारतीय समकालीन कला के परिदृश्य को रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि भारतीय कलाकारों में जहाँ नए माध्यमों, युक्तियों और प्रविधियों को सीखने की उत्कंठा है, वहीं अपनी कला-परम्परा से सार्थक अवयवों को ग्रहण करने का अपार धीरज है। यही धीरज भारत को विश्वकला के परिदृश्य में स्थापित करता है और उसे कला के स्तर पर भी एक समृद्ध देश बनाता है। ”**

फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी में भारतीय त्रैवार्षिकी खंड को देखते दर्शक

और एक साथ वहाँ कई माध्यमों में कला–सृजन देखने को मिल रहा है। ऐसे देशों में पेरू, बोलीविया, गुयाना, कोसोवो, मोनाको, सर्बिया, टोगो आदि हैं। यह दिलचस्प है कि इन देशों में समकालीनता को आज के सन्दर्भों में बरतने और उसमें नया रच पाने का कौशल दिखाई दे रहा है। इनमें कई माध्यमों का योगदान है; पर अब भी पेन्टिंग यानी चित्रकला का आकर्षण अधिक है।

दूसरे देशों में आज भी उन देशों की कला परम्पराएँ अधिक समृद्ध हैं और अधिक ऊर्जावान भी; जिनकी कला की धाक पहले से भी रही है। यह हैरत में डालने वाला तथ्य है कि आज भी इन देशों में नये–नये प्रयोग हो रहे हैं। कलाकार नये प्रयोगों के साथ उन प्रतीकों को भी नये अर्थों के साथ व्यक्त करने में लगे हैं जिनके अर्थ अब उतने प्रभावी नहीं रहे। इटली का कला–परिवेश अधिक सघन, सार्थक और अर्थगर्भी लगा। इन देशों के समानान्तर भारतीय समकालीन कला के परिदृश्य को रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि भारतीय कलाकारों में जहाँ नए माध्यमों, युक्तियों और प्रविधियों को सीखने की उत्कंठा है, वहीं अपनी कला–परम्परा से सार्थक अवयवों को ग्रहण करने का अपार धीरज है। यही धीरज भारत को विश्वकला के परिदृश्य में स्थापित करता है और उसे कला के स्तर पर भी एक समृद्ध देश बनाता है। भारत के कलाकार अपने समय से आक्रान्त नहीं हैं, वे उसे कृतियों में बारीकी से उठाते हैं और इस तरह से रचते हैं मानो वे एक नये लोक को सिरज रहे हों। आप लक्ष्मण अएलय की कृति 'सौंग ऑफ द विलेज' को देखें तो विश्वकला के मंच पर भी भारतीय जीवन की तस्वीरें साफ दिखाई देंगी। दो भारतीय परिधानों में दिखतीं स्त्रियाँ इस तरह गहरी शांति में डूबी दिखती हैं जैसे कोई

भाव बढ़ रहा है। यह आयोजन इसी भाव का सूचक था।

इस कला द्वैवार्षिकी में सत्तर से अधिक देशों की भागीदारी थी जिसमें सात सौ सड़सठ कलाकारों की कृतियाँ प्रदर्शित की गईं। भागीदार देशों में कुछ अत्यन्त छोटे देश हैं जिनके यहाँ कला की कोई बहुत पुरानी परम्परा नहीं है, अब उनमें कला के प्रति जागृति आई है

"विश्व शान्ति के लिए कलाकारों के पास ध्रुवीय संघर्षों में अपनी भूमिका निभाने का विशेष दायित्व है। अपनी सर्जना में कलाकार केवल कलाकार के लिए नहीं बोलता, वरन् उसकी कला असहिष्णुता, अहंकार और इससे जुड़ी बुराइयों के जिम्मेदार लोगों के विरुद्ध एक हथियार है। कला इसके साथ-साथ लोगों और राष्ट्रों के बीच सीखने, समझने के नये दरवाजे खोलती है। "

बड़ी समस्या आ खड़ी हुई हो। इसी तरह पुथूर प्रदीप की कृति 'थ्री फेजेज ऑफ रिजरेक्शन' भी यहाँ की गहरी प्रतीकात्मक कलात्मकता को दर्शाती हुई अपने रंग–विन्यास से मुग्ध कर देती है। यूसुफ अरक्कल की कृति 'बेकन्स मैन विद द फिगर ऑफ द पृस्ट' बहुत अर्थपूर्ण कृति है जो मनुष्यों की अनेक छवियों को समय के परिवर्तनीय अन्तराल में दिखाती है। ज्ञातव्य है कि फ्रान्सिस बेकन अति यथार्थवादी लेखक रहे थे जिन्होंने समय की विभीषिका को उसके चरम यथार्थ में दर्शाने का उपक्रम किया था।

यह कृति यूसुफ को एक सम्पन्न बौद्धिक कलाकार के रूप में रखती है जो अपने समय की सैद्धान्तिक बहसों के प्रति भी बहुत संजीदा हैं। इसी आयोजन में यूसुफ को स्वर्णपदक से सम्मानित कर इस द्वैवार्षिकी ने भारतीय कला की समकालीनता को एक तरह से स्वीकार किया और उसके महत्व को भी। मनु पारीख, आर.बी.भास्करन, महेन्द्र पाण्ड्या जैसे अग्रणी कलाकारों की कृतियों से सजा भारतीय कला परिवेश यह संदेश देने में सफल रहा कि भारत निरन्तर कला को समुन्नत कर रहा है और प्रविधि, माध्यम तथा नये–नये प्रयोगों के क्षेत्र में भी उसका विकास अनवरत जारी है।

फ्लोरेन्स की इस द्वैवार्षिकी में अन्य देशों की कला चेष्टाओं पर गौर करें तो पायेंगे कि प्रायः सबमें आज के समय की मुश्किलों का चित्रण था। कई देशों के कलाकारों ने तो आज के समय की भयावहता को चित्रित कर एक ऐसे मनोलोक की रचना की थी कि बरबस ही हम हैरत से सोचने को विवश थे। अमूर्त कृतियों में रंगों के नये प्रयोग और कैनवस के बर्ताव की कुशलता देखते ही बनती थी। आकृति–मूलक कृतियों में भी गहरी चित्रमयता के साथ–साथ छवियों को नये विन्यास में ढालने की तत्परता प्रभावित करती थी। साराह थॉमस (ऑस्ट्रेलिया) की कृति 'वेलकमिंग एटम' को देखकर भारतीय मन सर्वथा चकित था कि वसंत के स्वागत में प्रतीक्षातुर नायिका अपने धानी प्रवाह में निपट भारतीयता की छवि प्रस्तुत कर रही थी। कलाकार ने नायिका को एक नदी के रूप में चित्रित किया था जो अनवरत प्रवाहमान है। प्रदर्शनी में शामिल चाहे मूर्तिशिल्प हों या पेन्टिंग, संस्थापन हों या प्रिन्ट; सब ने अपनी गहरी छाप छोड़ी, जिसमें भारत अपनी उपस्थिति से सबको आश्वस्त करता रहा। यह प्रदर्शनी आज के विश्व में कलाकारों की भूमिका का भी एक मंच थी। द्वैवार्षिकी के अध्यक्ष पास्कल सिलोना ने फ्लोरेन्स द्वैवार्षिकी के कैटलॉग में ठीक ही लिखा है–''विश्व शान्ति के लिए कलाकारों के पास ध्रुवीय संघर्षों में अपनी भूमिका निभाने का विशेष दायित्व है। अपनी सर्जना में कलाकार केवल कलाकार के लिए नहीं बोलता, वरन् उसकी कला असहिष्णुता, अहंकार और इससे जुड़ी बुराइयों के जिम्मेदार लोगों के विरुद्ध एक हथियार है। कला इसके साथ–साथ लोगों और राष्ट्रों के बीच सीखने, समझने के नये दरवाजे खोलती है।''

अपने सम्बोधन में श्री पास्कल ने महान् भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को याद करते हुए उनकी कुछ पंक्तियों को उद्धृत किया है और टैगोर की भविष्य के प्रति सचेत दृष्टि की प्रशंसा की है। एक भारतीय होने के नाते यह भी कम सम्मान की बात नहीं है कि हमारे एक महान् कवि को इतना महत्व मिला।

हम कह सकते हैं कि फ्लोरेन्स कला द्वैवार्षिकी राष्ट्रों के बीच आपसी समझ बढ़ाने, शान्ति का संदेश देने में तो सफल रही ही, कलाकारों को एक–दूसरे से सीखने–जानने का मंच भी बनी। भारत की कला और भारतीय प्रतिनिधिमंडल के प्रति वहाँ का सद्भाव–प्यार इटली और भारत की कूटनीतिक साझा सांस्कृतिक सम्बंधों की गवाही दे रहे थे और हम निश्चय ही अपनी भारतीय कला को विश्वकला के मंच पर गौरवान्वित होता हुआ पा रहे थे।

— डॉ० सुधाकर शर्मा,
सचिव, ललित कला अकादेमी,
35ए फीरोजशाह मार्ग, रवीन्द्र भवन,
नई दिल्ली–110001

संगोष्ठियाँ : हिंदी में

भारत के संविधान द्वारा हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिए जाने के छप्पन वर्ष बाद भी सरकारी दफ्तरों में हिंदी की बातें तो बहुत होती हैं किन्तु हिंदी में बात नहीं होती या कम होती है जबकि संविधान के अनुच्छेद 351 में कहा गया है कि संघ सरकार का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी का प्रचार–प्रसार करे और इसका विकास करे।

इस दिशा में एक सार्थक कदम यह भी है कि विभिन्न कार्यालय अपने–अपने विषयों पर समय–समय पर कराई जाने वाली कुछेक संगोष्ठियों, सम्मेलनों आदि को केवल हिंदी में करवाएं। हिंदी पर तो संगोष्ठियाँ, कार्यक्रम, बहस–मुसाहबे होते ही रहते हैं हिंदी पखवाड़ों के दौरान। संस्कृति मंत्रालय के राजभाषा प्रभाग के निदेशानुसार 07 मार्च, 2006 को नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के हिंदी अनुभाग द्वारा तीन मूर्ति भवन में एक संगोष्ठी करवाई गई। विषय था ''समसामयिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संविधान''। इसमें न्यायमूर्ति जे.एस.शर्मा, न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर, न्यायमूर्ति एस.एन. कपूर जैसे न्यायाधीशों, डॉ. सुभाष कश्यप जैसे विधि वेत्ताओं, डा. वेद प्रताप वैदिक जैसे विचारकों आदि ने संविधान के विभिन्न पहलुओं पर हिंदी में जमकर बोला–रमकर बोला, हालांकि पहले वे सशंकित थे कि वे संविधान और विधि जैसे विशिष्ट और क्लिष्ट विषय पर कदाचित हिंदी में अपना परचा पढ़ पाएंगे अथवा नहीं। इस संगोष्ठी में स्वागत श्री के. जयकुमार, संयुक्त सचिव ने, संचालन सुरेश शुक्ल, हिंदी अधिकारी और धन्यवाद ज्ञापन मोहिनी हिंगोरानी ने किया।

उसी शृंखला की अगली कड़ी के रूप में संस्कृति विभाग के ही एक अन्य कार्यालय, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के राजभाषा अनुभाग द्वारा 21 मार्च, 2006 को ''भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में कला माध्यमों की सार्थकता'' विषय पर संगोष्ठी करवाई गई जिसमें डा. नामवर सिंह, कमलेश्वर, डा. प्रयाग शुक्ल, मोहन महर्षि, उमेश वर्मा, डा. रणजीत साहा, मुन्ना शुक्ल जैसे संस्कृति कर्मियों ने अपने विचार रखे। संगोष्ठी में स्वागत प्रो. देवेन्द्र राज अंकुर ने, विषय प्रवर्तन मोहिनी हिंगोरानी ने और धन्यवाद ज्ञापन गीता जोशी ने किया।

(दांए से) नेहरू स्मारक संग्रहालय एवम् पुस्तकालय के निदेशक एवम् संयुक्त सचिव श्री के. जयकुमार, भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री जे.एस. वर्मा का स्वागत करते हुए, साथ में हैं न्यायमूर्ति एस.एन.कपूर

ऐसी ही संगोष्ठियां संस्कृति विभाग के अन्य कार्यालयों में भी करवाने के प्रयास किए जा रहे हैं। इनकी कार्रवाइयों आदि को बाद में पुस्तकाकार में छपवाए जाने का भी प्रस्ताव है ताकि हम अगली पीढ़ी के लिए भिन्न–भिन्न विषयों पर हिंदी में संदर्भ एवं शोध साहित्य का सृजन कर इतिहास में अपनी भूमिका दर्ज कर सकें।

– **संपादक**

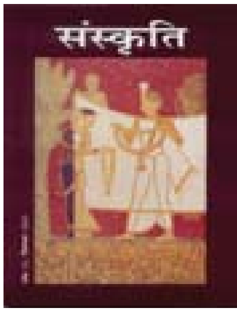

आपका पत्र मिला

'संस्कृति' पत्रिका का दसवाँ अंक मिला। पत्रिका के मध्य में एम.एफ.हुसैन द्वारा बनाए गए मूल कलाचित्र की पोस्टर प्रस्तुति वास्तव में बहुत पसंद आई। पत्रिका में प्रकाशित प्रत्येक लेख खोजपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक तो है ही, इनमें भारतीय संस्कृति का अविरल चित्रांकन भी हुआ है। पत्रिका का कलेवर आकर्षक एवं सुरुचिपूर्ण है।

सुश्री शशि यू. त्रिपाठी, सचिव, विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली–110001

इस अंक में हमारी संस्कृति, इतिहास, साहित्य, चित्रकला तथा विदेशों में फल–फूल रही भारतीय सांस्कृतिक विरासत व त्यौहारों का एक सजीव खाका प्रस्तुत किया गया है। यह पत्रिका आज के भीड़ भरे माहौल में अवश्य ही साहित्यकारों व कलाविदों की सहानुभूति का जीवन्त चित्र उकेरने में सफल रही है। यह पत्रिका अत्यंत सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानप्रद विषयवस्तुओं से युक्त है। मैं हिंदी में जब कभी ऐसी पत्रिकाएँ देखता हूँ तो सुखद आश्चर्य होता है।

श्री एस.वाई.कुरैशी, सचिव, युवा कार्यक्रम एवं खेल मंत्रालय

भारतीय कला तथा संस्कृति को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सशक्त रूप में प्रस्तुत करने का यह एक सराहनीय प्रयास है। विख्यात चित्रकार एम.एफ. हुसैन के मूल कलाचित्र की पोस्टर प्रस्तुति, स्तरीय लेख व अन्य सूचनाप्रद सामग्री पत्रिका को संग्रहणीय बनाते हैं। अति व्यस्त दिनचर्या में से समय निकालकर बनाई गई ''अनन्त शक्ति'' चित्रकृति अति प्रशंसनीय है।

श्री शेखर दत्त, सचिव, रक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली–110011

कृपया मेरी ओर से मंत्रालय के इस प्रयास के लिए बधाई स्वीकार करें। पत्रिका में प्रस्तुत एम.एफ. हुसैन के मूल कलाचित्र का पोस्टर बहुत आकर्षक है।

श्री मधुकर गुप्ता, सचिव, रसायन और उर्वरक मंत्रालय

इस पत्रिका में भारत की सांस्कृतिक गरिमा के भिन्न–भिन्न चित्रों और सारगर्भित लेखों का समावेश है। इसकी उपलब्धियों के लिए बधाई।

श्री सत्येन्द्र श्रीवास्तव, फ्लैट–25, 8 न्यूटन स्ट्रीट, लन्दन

''संस्कृति'' की प्रति भेजने के लिए धन्यवाद। यह अंक पठनीय और शोधपरक गंभीर लेखों तथा एम०एफ० हुसैन के पोस्टर के कारण संग्रहणीय है।

श्री अमरेन्द्र खटुआ, राजदूत, भारत का राजदूतावास, अबीजाँ

पिछले वर्ष छपे 'संस्कृति' के दोनों अंक समय पर डाक द्वारा मिले तो उन में दी गई सामग्री देख–पढ़ कर मन झूम उठा। हर पन्ने से भारतीय संस्कृति की खुशबू आती है। भारतीय मूल्य, मान्यताओं, परम्पराओं और कलाओं की जगमगाहट तो है ही, इस की सुन्दर छपाई और आकर्षक गेटअप भी काबिले तारीफ़ है।

श्री जोगेन्द्र सिंह कंवल, पो.बॉक्स 1343, बा, फीजी

''संस्कृति'' के दसवें अंक के लिए कृपया बधाई स्वीकार करें। पत्रिका के मध्य में श्री एम०एफ० हुसैन द्वारा बनाई गई मूल कलाचित्र का पोस्टर भी काफी आकर्षक, सजीव एवं सराहनीय है।

श्री प्रियदर्शी ठाकुर, सचिव, भारी उद्योग एवं लोक उद्यम मंत्रालय

'संस्कृति' को देखकर और पढ़कर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। प्रायः सरकारी प्रकाशनों में 'संस्कृति' जैसी स्तरीयता दिखाई नहीं पड़ती। 'संस्कृति' के लेखों के चयन में एक सुविचारित योजना है। चित्रकला, लोककला, संगीत, इतिहास, पुरातत्व, विदेशों के भारतवंशी साहित्य और जीवन, ऋतुओं आदि भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर गहन किन्तु पठनीय सामग्री इस अंक की विशेषता है। पत्रिका की सौन्दर्यमूलक साज–सज्जा तर्कसंगत है। ऐसी सुन्दर और सार्थक पत्रिका के संपादन और प्रकाशन के लिए कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें।

श्री दया प्रकाश सिन्हा, उपाध्यक्ष, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, बी–255, सेक्टर–26, नोएडा–201301

पत्रिका हर दृष्टि से अच्छी है। उच्च स्तरीय सामग्री जितनी अच्छी है उतनी ही उसकी साज सज्जा। हुसैन द्वारा बनाये गये मूल चित्र की पोस्टर प्रस्तुति को पत्रिका में जोड़ना एक बहुत ही अच्छी सोच है। मुझे तो लगता है कि काफी लोग इसको फ्रेम कराकर अपने घर में लगा भी सकते हैं।

प्रो०इन्द्र नाथ चौधुरी, निदेशक, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, जनपथ, नई दिल्ली–110001

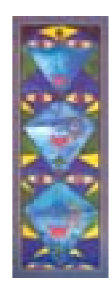

'संस्कृति' का सितम्बर, 2005 अंक अत्यंत मनोहारी लगा। संपादकीय भी प्रौढ़, गंभीर और चिंतनपूर्ण है। पत्रिका में प्रख्यात चित्रकार एम.एफ.हुसैन के 'मदर टेरेसा' –मूल कलाचित्र का पोस्टर देकर आपने मानवमूल्य तथा संस्कृति पर अधिष्ठित भारतीय चित्रकला की उदारता को दर्शाने का महान् प्रयास ही किया है। श्रीमती नीना रंजन कृत 'अनन्त शक्ति' शीर्षक चित्र वस्तुतः नीना जी

के दर्शन, चिन्तन पूर्ण कला–कौशल का सप्राण प्रमाण प्रस्तुत करता है।

डॉ०एस.तंकमणि अम्मा, प्रोफेसर एवं अध्यक्षा हिंदी विभाग कारियावोट्टम तिरुवनंतपुरम, केरल–695581

इतना सुन्दर, सुसम्पादित और संग्रहणीय अंक निकालने के लिए मेरी और रवि की हार्दिक बधाई स्वीकार करें। पूरा अंक एक कलाकृति ही बन पड़ा है। मध्यपृष्ठ पर हुसैन का मदर टेरेसा का चित्र हमने मढ़वा लिया है। यह आपसे प्राप्त उपहार रहा।

श्रीमती ममता कालिया, भारतीय भाषा परिषद्, 36 ए, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता–700017

वाकई पत्रिका की साज सज्जा अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और भव्य है। सभी चित्र व हुसैन के चित्र का पोस्टर बेहद तरीके से सजाये गए हैं। सामग्री भी पठनीय है। सिम्मी हर्षिता की कहानी तुरंत पढ़ी। विदेशों में भी इससे भारत की छवि सुदृढ़ होगी।

श्रीमती मृदुला गर्ग, ई–421, भूतल, जी.के.–2, नई दिल्ली–110048

भारतीय संस्कृति के विभिन्न परिदृश्य से परिपूर्ण 'संस्कृति' का यह अंक अत्यंत प्रशंसनीय और सराहनीय है। भारत के आदिवासी पर राजेन्द्र अवस्थी का लेख बड़ा ही तथ्यपूर्ण है। भारत की परम्परा और भविष्य पर शीला गुजराल जी का लेख भी अत्यंत प्रभावशाली लगा। कुल मिलाकर इस अंक के सभी लेख संग्रहणीय हैं।

सुश्री सुरभि बेहेरा, कृषि फार्म कॉलोनी, रंगाढ़िया, सुन्दरगढ़–770009, उड़ीसा

'संस्कृति' पहली बार मैंने गुजरात विद्यापीठ के पुस्तालय में देखी। मन प्रसन्न हो गया। इतनी उच्चकोटि की सामग्री, इतने सुन्दर सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए आप वास्तव में साधुवाद और अभिनन्दन की पात्र हैं।

श्री प्रमोद शंकर मिश्र, 18/199, अमर अपार्टमेन्ट्स, नारणपुरा, अहमदाबाद–380063

'संस्कृति' पत्रिका मिली, पाकर विस्मित रह गया कि हिंदी की कोई पत्रिका इस अंतरराष्ट्रीय स्तर की भी निकल रही है। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय को इसके लिए साधुवाद देना चाहूँगा। एम.एफ.हुसैन जी कृत 'मदर टेरेसा' का पोस्टर देने के लिए आपका विशेष धन्यवाद। यह पत्रिका निश्चय ही धरोहर है हमारी।

श्री शेखर मल्लिक, सवेरा प्रकाशन, मउ भण्डार, ब्लॉक–2, आ.सं. 44/3 ए.टी.एफ., सिंहभूम पूर्व 832103, झारखण्ड

संस्कृति का 10वां अंक मिला कुशल सम्पादन, स्तरीय प्रकाशन एवं नयनाभिराम प्रस्तुति के लिए बधाई स्वीकारें। इस अंक में कमलेश्वर का 'कथा संस्कृति : वैश्विक परिदृश्य', राजेन्द्र अवस्थी का 'भारत के आदिवासी : कला और लोक साहित्य' और राकेष पाण्डेय का 'त्रिनिदाद एवं टुबैगो में भारतीय संस्कृति', जोगेंद्र सिंह का 'फीजी में हिन्दी काव्य आलेख' विशेष रूप से पठनीय हैं। वे शोधपरक भी हैं और विचारपरक भी।

डॉ०तारादत्त निर्विरोध, 254 पद्मावती कॉलोनी, ए, अजमेर रोड, जयपुर–302019 राजस्थान

राष्ट्रपति डॉ०कलाम का संगीत–विषयक भाषण छापकर आपने उन लोगों का बड़ा कल्याण किया है, जिन्हें वह भाषण सुनने का अवसर नहीं मिला था। और कमलेश्वर जी का आलेख 'कथा–संस्कृति : वैश्विक परिदृश्य' भी गंभीर लेख है, गुणाढ्य के संबंध में विस्तृत जानकारी देनेवाला। वैसे भारतीय मूल की प्राचीन लोक–कथाओं के वैश्विक विस्तार को जानने–समझने में निश्चय रूप से इस आलेख से सहायता मिलती है। प्रो० लोकेशचन्द्र जी का 'मानव–संस्कृति को भारत का अवदान' एक सुचिन्तित और महत्वपूर्ण शोध–निबंध है। इस प्रकार की सामग्री को उचित स्थान देकर आपने सम्प्रेषित किया है कि आपके लिए 'संस्कृति' मात्र रूपंकर कलाओं या चाक्षुष कलाओं तक ही सीमित नहीं है। अपनी पुष्ट परम्परा, विस्तृत दृष्टि और स्वाभिमान–बोध के अभाव में हर 'सांस्कृतिक' कर्म मात्र तमाशा बनकर रह जाता है।

डॉ० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, पूर्व सांसद, एम–2/11, राजेन्द्र नगर, पटना–800015

सुकथाकार श्री कमलेश्वर जी का कथा का वैश्विक परिदृश्य दिखलाता प्रलेख, महामहिम राष्ट्रपति महोदय का मौलिक चिंतन वाला अभिभाषण अनुवाद, अनिल शास्त्री का पितृ–भक्ति से ओत–प्रोत संस्मरण, दांडीमार्च की वास्तविकता के दर्शन कराता मधुकर उपाध्याय का लेख और पुराने के नाम पर नाक–भौं सिकोड़ती नई पीढ़ी का ऊल–जलूल प्रवृत्तियों, संस्कारहीनता पर प्रहार करता प्रबुद्ध संपादकीय पत्रिका की ईमानदाराना मंशा और कुछ और बेहतर दुनिया की संकल्पना का आभास देते हैं।

श्री सलीम खाँ फरीद, हसामपुर, 332718 सीकर–राजस्थान

साहित्य, कला और संस्कृति को लेकर किया गया यह प्रयास प्रशंसनीय है। कुछ लेख विभिन्न देशों में बसे भारतीय मूल के लोगों द्वारा संजोकर रखी गयी भारतीय संस्कृति की धरोहर से अवगत कराते हुए मन को छूते हैं। एम.एफ. हुसैन द्वारा बनाये गये मूल कलाचित्रों का पोस्टर संग्रहणीय है।

श्री अमर नाथ झा, राज्य पुस्तकालय, राँची

पत्रिका बहुत अच्छी और पठनीय है। कुछ लेख तो खोजपूर्ण और महत्वपूर्ण जानकारी से युक्त हैं। जोगेन्द्र सिंह कंवल का ''फीजी की हिंदी कविता में भारतीय संस्कृति'' और राकेश पाण्डेय का ''त्रिनिदाद एवं टुबैगो में भारतीय संस्कृति'' तथा मीमांसक

का ''इतिहास के यायावर'' पढ़कर हर भारतीय को गौरव का अहसास होगा। उसके आत्मविश्वास में भी वृद्धि होगी।

श्री राधेश्याम शर्मा, निदेशक, हरियाणा साहित्य अकादेमी, 169, सैक्टर 12, पंचकुला–134112

एक सुमुद्रित पत्रिका मिली। वह आपके सम्पादन कौशल का प्रमाण है। इसके लिए जितनी प्रशंसा की जाए कम है। सचमुच मुझे बहुत पसंद आयी। रुककर ठहरना पड़ता है, सोचने के लिए कि क्या यह वास्तव में अव्यावसायिक सरकारी पत्रिका है। सचमुच वह आकर्षक है और पठनीय भी।

श्री राजेन्द्र अवस्थी, एफ–12, जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली–110014

सभी प्रकार से संग्रहणीय अंक है। सभी रचनाकार अपने विषयों के दिग्गज और समर्थ हैं। संपादकीय में आपने भारत की गौरवशाली सामाजिक संस्कृति की जो चर्चा की है वह सामयिक और सराहनीय है। महामहिम राष्ट्रपति डॉ०कलाम के भाषण का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर इस अंक की उपादेयता में आपने चार चांद लगा दिए हैं। काश होली वाला लेख अगले अंक में दिया जाता तो ज्यादा उपयुक्त रहता।

डॉ० हरिसिंह पाल, 684 इन्द्रा पार्क, नई दिल्ली–110045

पत्रिका का संपादकीय अच्छा लिखा गया है किन्तु कई स्थानों पर तारतम्यता का अभाव दिखा। संपादकीय किसी भी पत्रिका का दर्पण होता है। अतः केवल प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग, बिम्बात्मक भाषा और दुरूह शैली, संपादकीय के मूल संदेश से दूर ले जा सकती है और संपादकीय महज 'पैच वर्क' बनकर रह जाएगा।

श्री राकेश कुमार, स.नि., रा.भा., वित्त मंत्रालय, नई दिल्ली

'संस्कृति' द्वारा आपने एक अत्यन्त जरूरी काम किया है। दाद और मुबारक। संस्कृति, साहित्य, कला, चित्रकला और रेखा चित्रकला पर लिखे गए सभी आलेख बढ़िया हैं, सरल और सरस हैं, हुसैन साहिब की चित्रकला तो अद्वितीय है, उन जैसा जीनियस चित्रकार केवल भारत के पास ही है, और कहीं नहीं।

श्री जसवंत सिंह विरदी, 96–गोल्डन एवेन्यू–1, जालन्धर–144022

''संस्कृति'' मुखपृष्ठ से लेकर अंतिम पृष्ठ तक दर्शनीय एवं पठनीय है। साथ ही नाम के अनुरूप मानस हृदय में स्थान बनाने में सक्षम। चिंतन–प्रेरक, कुशल संपादन, पठनीय लेख संकलन, दर्शनीय साज–सज्जा के लिए हार्दिक बधाई स्वीकारें। राष्ट्रपति जी के अभिभाषण, श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के जीवन संबंधी संस्मरण, मधुकर उपाध्याय जी का 'दांडी मार्च', कमलेश्वर जी का 'कथा संस्कृति', प्रो० लोकेश चन्द्र जी का 'मानव संस्कृति को भारत का अवदान' लेख और प्रयाग शुक्ल जी का 'कला जो कल भी रहेगी' सहित राजेन्द्र अवस्थी जी का 'भारत के आदिवासी' लेख सभी अत्यंत विचारोत्तेजक और उपयोगी सूचनाओं से भरपूर हैं। डॉ० वीरेन्द्र सिंह जी का 'चोलकालीन कला का सौन्दर्यशास्त्र' लेख अत्यंत उत्कृष्ट लेख है। सिम्मी हर्षिता जी का 'उस फूल का नाम' कथाचित्र अत्यंत भावपूर्ण और अत्यंत प्रासंगिक है। संपादक के नाते इन सबके लिए आपको हार्दिक बधाई। सामग्री चयन के लिए परिश्रम की झलक इस पत्रिका से पाठक को पूरी तरह मिलती है। जहाँ तक श्री हुसैन के पोस्टर का संबंध है, वह कम लोगों को ही प्रभावित करेगा। श्रीमती नीना रंजन की आवरण–तीन पर जो चित्र–कला है वह अत्यंत उत्कृष्ट श्रेणी की है।

डॉ० महेश चन्द्र गुप्त, 316, सेक्टर–ए, पॉकेट–सी, वसंत कुंज, नई दिल्ली–110070

संस्कृति पत्रिका का दसवां अंक प्राप्त हुआ, कला का सौन्दर्य उसके प्रस्तुतीकरण से कई गुना हो जाता है यह अंक इस बात का सर्वोत्तम उदाहरण है। यह सरकार के संस्कृति मंत्रालय की उदारता है जिसने इतने मूल्यवान अंक को हमें निःशुल्क उपलब्ध कराया है। विषयों की विविधता तथा उसके अधिकारी ख्याति प्राप्त विद्वानों द्वारा उन्हें गहरी जिम्मेदारी से लिखे जाने के कारण यह अंक संग्रहणीय है। पत्रिका की आवृत्ति अवश्य ही तरसा देने वाली है।

श्री वीरेन्द्र जैन, लेखक/पत्रकार, 2/1 शालीमार स्टर्लिंग रायसेन रोड, अप्सरा टाकीज़ के पास, भोपाल, मध्यप्रदेश–462023

सजे धजे मनमोहक कलेवर में ''संस्कृति'' अपने नाम के अनुरूप गरिमामय है– संपादकीय परिवार को प्रस्तुति के लिए हार्दिक बधाइयां– प्रो० लोकेश चन्द्र, डा० हर्ष नंदिनी, मीमांसक तथा राकेश पांडेय की रचनायें रोचक तथा ज्ञानवर्धक हैं। लेकिन एम०एफ० हुसैन की चित्रकारी बेतुकी है, किसी भी रूप में उचित प्रतीत नहीं होती है।

श्री राधाकान्त भारती, 56, नगिन लेक अपार्टमैंट, पीरागढ़ी, दिल्ली–87

पिछले अंक के पृष्ठ 36 पर कृपया ऐसा पढ़ें... 'चीन के सम्राट श्वेङदे का श्वेत–नीला धूप पात्र, राज्यकाल – 1425–1426 था। इस पर चारों ओर तथा नीचे तले पर भी संस्कृत के मंत्र लिखे हैं।'

मुद्रक : इंडिया ऑफसेट प्रेस, नई दिल्ली

सौजन्य : रामपुर रजा लाइब्रेरी, रामपुर

शहजादा कमाल-उल्लदीन की लिखी हुई 'मजालिस-उल-अशाक' की पाण्डुलिपि 1565 ईस्वी की जिस पर यह लिखा है कि यह पुस्तक ख़ाने-ख़ाना बैरम ख़ान के किताबख़ाने में 995 हि. में आई